बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

जन्म : 14 अप्रैल 1891 परिनिर्वाण : 6 दिसंबर 1956

बाबासाहेब

डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 9

डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 9
अस्पृश्यता अथवा भारत में बहिष्कृत बस्तियों के प्राणी

पहला संस्करण : 1995
दूसरा संस्करण : 1998
तीसरा संस्करण : 2011
चौथा संस्करण : 2013

ISBN : **978-93-5109-009-0**

आवरण परिकल्पना : विनय कुमार पॉल
पुस्तक के आवरण पर उपयोग किया गया मोनोग्राम बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के लेटरहेड से साभार

मूल्य : सामान्य (पेपरबैक) : ₹ 25

प्रकाशक :
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
भारत सरकार, नई दिल्ली – 110 001
फोन : 011–23320571, 23320576, 23320589
फैक्स : 23320582
वेबसाइट : www.ambedkarfoundation.nic.in

मुद्रक : अरिहंत ऑफसेट, जनकपुरी, नई दिल्ली

जिस समाज में कुछ वर्गों के लोग जो कुछ चाहें वह सब कुछ कर सकें और बाकी वह सब भी न कर सकें जो उन्हें करना चाहिए, उस समाज के अपने गुण होते होंगे, लेकिन इनमें स्वतंत्रता शामिल नहीं होगी। अगर इंसानों के अनुरूप जीने की सुविधा कुछ लोगों तक ही सीमित है, तब जिस सुविधा को आमतौर पर स्वतंत्रता कहा जाता है, उसे विशेषाधिकार कहना अधिक उचित होगा।

—भीमराव अम्बेडकर

परामर्श सहयोग :

माननीय सीताराम केसरी
कल्याण मंत्री
भारत सरकार

माननीय के.वी. थंगाबालू
कल्याण राज्य मंत्री
भारत सरकार

श्री के.बी. सक्सेना, आई.ए.एस.
सचिव
कल्याण मंत्रालय

श्री गंगादास, आई.ए.एस.
संयुक्त सचिव
कल्याण मंत्रालय
सदस्य सचिव
डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री कन्हैयालाल चंचरीक
प्रबंध संपादक

संपादक

श्री कैलाश चन्द्र सेठ
श्री मोहनदास नैमिशराय

अंग्रेजी में संकलन

श्री वसंत मून

अनुवादक • पुनरीक्षक

श्री सीताराम खोड़ावाल

स्व. रघुनंदन सिंह

डा. देवेश चन्द्र

दूसरे संस्करण के पुनरीक्षक

श्री उमराव सिंह

तृतीय संस्करण के पुनरीक्षक

श्री सुधीर हिलसायन

dqekjh lSytk

KUMARI SELJA

Lkkekftd U;k; vkSj vf/kdkfjrk ea=h

Hkkjr ljdkj

MINISTER OF SOCIAL JUSTICE & EMPOWERMENT

GOVERNMENT OF INDIA

rFkk

v/;{k] MkW- vEcsMdj izfr"Bku

CHAIRPERSON, DR. AMBEDKAR FOUNDATION

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है कि सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय का स्वायत्तशासी संस्थान, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान द्वारा बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के लेखों एवं भाषणों के खंड संख्या 9 का पुनः संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

भारत रत्न डॉ. बी. आर. अम्बेडकर भारतीय सामाजिक–राजनीतिक आंदोलन के ऐसे पुरोधा रहे हैं, जिन्होंने जीवनपर्यन्त समाज के आखिरी पायदान पर संघर्षरत् व्यक्तियों की बेहतरी के लिए कार्य किया। डॉ. अम्बेडकर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे इसीलिए उनके लेखों में विषय की दार्शनिक मीमांसा प्रस्फुटित होती है। बाबासाहेब का चिंतन एवं कार्य समाज को बौद्धिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समृद्धि की ओर ले जाने वाला तो है ही, साथ ही मनुष्य को जागरूक मानवीय गरिमा की आध्यात्मिकता से सुसंस्कृत भी करता है।

बाबासाहेब का संपूर्ण जीवन दमन, शोषण और अन्याय के विरुद्ध अनवरत क्रांति की शौर्य–गाथा है। वे एक ऐसा समाज चाहते थे जिसमें वर्ण और जाति का आधार नहीं बल्कि समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व व मानवीय गरिमा सर्वोपरि हो और समाज में जन्म, वंश और लिंग के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव की कोई गुंजाइश न हो। समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के प्रति कृतसंकल्प बाबासाहेब का लेखन प्रबुद्ध मेधा का प्रामाणिक दस्तावेज़ है।

भारतीय समाज में व्याप्त विषमतावादी वर्णव्यवस्था, जिसके तहत मानव–मानव में भेद किया जाता था, से डॉ. अम्बेडकर कई बार टकराए। इस टकराहट से डॉ. अम्बेडकर में ऐसा जज़्बा पैदा हुआ, जिसके कारण उन्होंने समतावादी समाज की संरचना को अपने जीवन का मिशन बना लिया। समतावादी समाज के निर्माण की प्रतिबद्धता के कारण डॉ. अम्बेडकर ने विभिन्न धर्मों की सामाजिक–धार्मिक व्यवस्था का अध्ययन व तुलनात्मक चिंतन–मनन किया।

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के अन्य खंडों को भी शीघ्र प्रकाशित करने में प्रयासरत है। मुझे पूरी आशा है कि पाठकों को शीघ्र ही अप्रकाशित अन्य खंड भी पुस्तकों के आकार में प्राप्त हो जाएंगे।

आशा है, पाठकगण इस खंड के बारे में अपने अमूल्य विचार एवं सुझाव उपलब्ध करवाएं जिससे कि इन अनूदित खंडों की गुणवत्ता एवं साज–सज्जा को आगामी खंडों में आने वाले समय में बेहतर बनाया जा सके।

सैलजा

(कुमारी सैलजा)

परामर्श सहयोग

कुमारी सैलजा
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, भारत सरकार
एवं
अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री डी. नैपोलियन
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री पी. बलराम नाईक
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्र

श्री अनिल गोस्वामी
सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार

श्री संजीव कुमार
संयुक्त सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार
एवं सदस्य सचिव, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री विनय कुमार पॉल
निदेशक
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री कुमार अनुपम
विशेष कार्याधिकारी

डॉ. शशि भारद्वाज
सम्पादक

श्री जगदीश प्रसाद 'भारती'
व्यापार प्रबंधक

आमुख

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान द्वारा बाबा साहेब डा. अम्बेडकर के लेखों का हिंदी भाषा में नवां खंड प्रकाशित किया जा रहा है। भगवान बुद्ध के बाद जिन महापुरुषों ने समाज-सुधार को अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाया, उनमें बाबा साहेब डा. अम्बेडकर का सर्वोच्च स्थान है। डा. अम्बेडकर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और वर्ग-भेद के परंपरागत अप्राकृतिक सिद्धांत पर टिकी सनातन सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त कुरीतियों को समाप्त कर समाज के संभावित विघटन को रोकने के लिए आजीवन संघर्षरत रहे।

'बाबा साहेब डा. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय परियोजना के तहत प्रकाशित यह नवीनतम ग्रंथ डा. अम्बेडकर के चिंतन का प्रामाणिक दस्तावेज है। इस ग्रंथ के प्रकाशन में सहयोग देने वाले सभी पदाधिकारियों को हार्दिक बधाई देते हुए उम्मीद करता हूं कि इस महान कार्य से जुड़े सभी लोगों की सहायता एवं सक्रिय सहयोग से डा. अम्बेडकर से संबंधित साहित्य को यथाशीघ्र भारतीय भाषाओं में उपलब्ध कराकर बाबा साहेब के विचारों एवं संदेशों को हम जन-जन तक पहुंचाने में सफल होंगे एवं इसी अनुक्रम में हिंदी भाषा में प्रकाशित यह नवां खंड अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल होगा।

(सीताराम केसरी)
कल्याण मंत्री
भारत सरकार

संदेश

बाबा साहेब हिंदू समाज के सभी दमनकारी स्वरूपों के विरुद्ध विद्रोह के प्रतीक मात्र नहीं थे, अपितु बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी थे। एक राजनीतिज्ञ तथा राष्ट्रीय नेता के नाते उन्होंने अपने पीछे संविधान के रूप में एक मूल्यवान विरासत छोड़ी है। उनका यह दृढ़ मत था कि शिक्षा के बिना प्रगति संभव नहीं है। उन्होंने दलितों तक शिक्षा पहुंचाने के लिए अनेक स्कूलों और कालिजों की स्थापना की। शोषितों के उद्धार के लिए उन्होंने जीवन-भर जो संघर्ष किया, उससे उन्हें सामाजिक और आर्थिक न्याय से पीड़ित मानवता के उद्धारक के रूप में अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हुई।

मुझे प्रसन्नता है कि उनके विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में उनके भाषणों और लेखों को खंडबद्ध रूप में प्रकाशित कर रहा है।

मैं इस परियोजना की सफलता की कामना करता हूं।

थंगाबालू.
कल्याण मंत्री
भारत सरकार

प्रकाशकीय

युगपुरुष भारतरत्न बाबा साहेब डा. अम्बेडकर सामाजिक नव-जागरण के अग्रदूत थे। उनका संपूर्ण जीवन सदियों से शोषित-दलित मानवता के सामाजिक-आर्थिक एव शैक्षिक उत्थान के लिए समर्पित था। उन्होंने समाज में विद्यमान रूढ़िगत मान्यताओं और विषमताओं को समूल नष्ट करने और सामाजिक न्याय और दलितों के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए जीवनपर्यंत संघर्ष किया।

बाबा साहेब के सामाजिक नव-चेतना और नव-आर्थिक संरचना के स्वप्न को मूर्तरूप देने के लिए भारत सरकार ने डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान की स्थापना की है। यह प्रतिष्ठान निम्न मुख्य गतिविधियों और योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए कृत संकल्प है :

1. डा. अम्बेडकर राष्ट्रीय पुस्तकालय, 2. डा. अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार, 3. डा. अम्बेडकर विदेश-छात्रवृत्ति, 4. डा. अम्बेडकर पीठिकाओं (चेअर्स) की स्थापना, 5. 'बाबा साहेब डा. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय' का भारतीय भाषाओं में प्रकाशन, 6. डा. अम्बेडकर अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार, और 7. डा. अम्बेडकर राष्ट्रीय स्मारक (26, अलीपुर रोड, दिल्ली)।

इन योजनाओं को साकार रूप देने में सामाजिक न्याय के लिए प्रतिबद्ध माननीय श्री सीताराम केसरी, कल्याण मंत्री, माननीय थंगाबालू, राज्य कल्याण मंत्री, एवं श्री के. बी. सक्सेना, सचिव, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार के प्रति, जिनसे समय-समय पर अमूल्य परामर्श और मार्गदर्शन तथा प्रेरणा मिलती रहती है, प्रतिष्ठान की ओर से मैं आभार प्रकट करता हूं। उन्हीं के सहयोग से प्रतिष्ठान को इन योजनाओं को कार्यान्वित करने हेतु पर्याप्त आर्थिक सहायता सरकार से प्राप्त हो सकी।

बाबा साहेब के संपूर्ण वाङ्मय को हिंदी और अन्य ग्यारह भारतीय भाषाओं में अनूदित कराने और प्रकाशित करने की इस राष्ट्रीय महत्व की परियोजना से संबंधित भारतीय भाषाओं के अनुवादकों, पुनरीक्षकों, प्रबंध संपादकों और मुद्रकों के चयन की लंबी प्रक्रिया की व्यावहारिक कठिनाई के कारण कुछ खंडों के प्रकाशन में विलंब होने से हमें खेद है।

प्रस्तुत हिंदी खंड नौ के समय पर प्रकाशित होने पर प्रतिष्ठान को अत्यंत खुशी है और इसके लिए संपादक श्री कैलाश चन्द्र सेठ एवं श्री मोहनदास नैमिशराय, प्रबंध संपादक श्री कन्हैयालाल चंचरीक तथा प्रतिष्ठान के विशेष कार्य अधिकारी और इस योजना के समन्वयक श्री जगन्नाथ प्रसाद बधाई के पात्र हैं। साथ ही, मैं अनुवादकों-पुनरीक्षकों को साधुवाद देता हूं, जिन्होंने इस कार्य में सहयोग प्रदान किया।

हमें खुशी है कि प्रतिष्ठान के द्वारा प्रकाशित किए जा रहे बाबा साहेब डा. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय का सर्वत्र स्वागत हुआ है। इससे हमें भारी प्रोत्साहन और बल मिला है। अंत में, हम इस संबंध में अपने सुधी पाठकों के सुझावों का स्वागत करेंगे।

गंगादास
सदस्य सचिव
डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
25, अशोक रोड, नई दिल्ली

संपादकीय

सामाजिक सुधार के क्षेत्र में भारत की जनता के प्रेरणा-स्रोत बाबा साहेब डा. अम्बेडकर का स्थान इस कारण सर्वोपरि है कि उन्होंने अपनी कल्पना के समाज का भव्य निर्माण स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की नींव पर किया था और जिसे साकार रूप देने के लिए वह आजीवन संघर्षरत रहे। अब युग बदल रहा है। पिछले दशकों में भारी जन-जागरण हुआ है और आज दलित आंदोलन के प्रति जन-सहानुभूति है।

प्रस्तुत खंड अंग्रेजी के पांचवें खंड का पूर्वार्द्ध है। यह जातिप्रथा की कोख से उत्पन्न अस्पृश्यता के समूलनाश की दिशा मे बाबा साहेब की महानतम उपलब्धि है। हमें विश्वास है, यह भारतीय समाज में व्याप्त वर्ग-भेद, वैर-भाव और पूर्वाग्रहों को मिटाकर राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने में सहायक सिद्ध होगा।

हम इस खंड के सफल प्रकाशन के लिए कल्याण मंत्रालय और डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान के अपने सभी सहयोगियों, विशेष रूप से श्री गंगादास, सदस्य सचिव (डा. अ. प्र.) के प्रति आभार व्यक्त करते हैं, जिनसे हमें समय-समय पर उपयोगी दिशा-निर्देश मिलता रहा है।

संपादक

विषय-सूची

अस्पृश्यता अथवा भारत की बहिष्कृत बस्तियों के प्राणी

अंग्रेजी में यह दो सौ आठ पेज की पांडुलिपि (दूसरी प्रति) है, जिसका शीर्षक है 'अनटचेबल्स और दि चिल्ड्रेन आफ इंडियाज घेट्टो' (अस्पृश्यता अथवा भारत की बहिष्कृत बस्तियों के प्राणी)। यह पूरी पांडुलिपि स्वयं में एक स्वतंत्र पुस्तक स्वरूप है। इसके साथ एक विषय-सूची मिलती है, जो चार खंडों में है। यह आगे चौदह अध्यायों में विभक्त है। इन अध्यायों के क्रम में थोड़ा संशोधन करना पड़ा, जिससे उसे विषय-सूची के अनुसार रखा जा सके। अध्यायों के शीर्षकों में कुछेक संशोधनों को छोड़कर, लेखक ने बाकी सारी सामग्री में कहीं कोई संशोधन नहीं किया है—संपादक

भाग I
अस्पृश्य होने का अर्थ

1

अस्पृश्यता—उसका स्रोत

ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अस्पृश्यों की दयनीय स्थिति से दुखी हो यह चिल्लाकर अपना जी हल्का करते फिरते हैं कि 'हमें अस्पृश्यों के लिए कुछ करना चाहिए।' लेकिन इस समस्या को जो लोग हल करना चाहते हैं, उनमें से शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो यह कहता हो कि 'हमें स्पृश्य हिंदुओं को बदलने के लिए भी कुछ करना चाहिए।' यह धारणा बनी हुई है कि अगर किसी का सुधार होना है तो वह अस्पृश्यों का ही होना है। अगर कुछ किया जाना है तो वह अस्पृश्यों के प्रति किया जाना है और अगर अस्पृश्यों को सुधार दिया जाए, तब अस्पृश्यता की भावना मिट जाएगी। सवर्णों के बारे में कुछ भी नहीं किया जाना है। उनकी भावनाएं, आचार-विचार और आदर्श उच्च हैं। वे पूर्ण हैं, उनमें कहीं भी कोई खोट नहीं है। क्या यह धारणा उचित है? यह धारणा उचित हो या अनुचित, लेकिन हिंदू इसमें कोई परिवर्तन नहीं चाहते? उन्हें इस धारणा का सबसे बड़ा लाभ यह है कि वे इस बात से आश्वस्त हैं कि वे अस्पृश्यों की समस्या के लिए बिल्कुल भी उत्तरदायी नहीं हैं।

यह मनोवृत्ति कितनी स्वभाव अनुरूप है, इसे यहूदियों के प्रति ईसाइयों की मनोवृत्ति का उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है। हिंदुओं की तरह ईसाई भी यह नहीं मानते कि यहूदियों की समस्या असल में ईसाइयों की समस्या है। इस विषय पर लुइस गोल्डिंग की टिप्पणी इस स्थिति को और अधिक स्पष्ट करती है। यहूदियों की समस्या असलियत में किस तरह ईसाइयों की समस्या है, इसे बताते हुए वह कहते हैं :

"जिस अर्थ में मैं यहूदियों की समस्या को असलियत में ईसाई समस्या समझता हूं, उसको स्पष्ट करने के लिए बहुत ही सीधी-सी मिसाल देता हूं। मेरे ध्यान में मिश्रित जाति का एक आयरिश शिकारी कुत्ता आ रहा है। इसे मैं बहुत दिनों से देखता आया हूं। यह मेरे दोस्त जॉन स्मिथ का कुत्ता है, नाम है पैंडी। वह इसे बेहद प्यार करते हैं। पैडी को

स्कॉच शिकारी कुत्ते नापसंद हैं। इस जाति का कोई कुत्ता उसके आस-पास बीस गज दूर से भी नहीं निकल सकता और कोई दिख भी जाता है तो वह भूंक-भूंककर आसमान सिर पर उठा लेता है। उसकी यह बात जॉन स्मिथ को बेहद बुरी लगती है और वह उसे चुप करने का हर संभव प्रयत्न भी करते हैं, क्योंकि पैडी जिन कुत्तों से नफरत करता है, वे बेचारे चुपचाप रहते हैं और कभी भी पहले नहीं भूंकते। मेरा दोस्त, हालांकि पैडी को बहुत प्यार करता है, तो भी वह यह सोचता है, और जैसा कि मैं भी सोचता हूं, कि पैडी की यह आदत बहुत कुछ उसके किसी जाति-विशेष होने पर उसके स्वभाव के कारण है। हमसे किसी ने यह नहीं कहा कि यहां जो समस्या है, वह स्कॉच शिकारी कुत्ते की समस्या है और जब पैडी अपने पास के किसी कुत्ते पर झपटता है जो बेचारा टट्टी-पेशाब वगैरह के लिए जमीन सूंघ-सांघ रहा होता है, तब उस कुत्ते को क्या इसलिए मारना-पीटना चाहिए कि वह वहां अपने अस्तित्व के कारण पैडी को हमला करने के लिए उकसा देता है।

हम देखते हैं कि यहूदी समस्या और अस्पृश्यों की समस्या एक जैसी है। स्कॉच शिकारी कुत्ते के लिए जैसा पैडी है, यहूदियों के लिए वैसा कोई ईसाई है और वैसा ही अस्पृश्यों के लिए कोई हिंदू है। किंतु एक बात में यहूदियों की समस्या और ईसाई समस्या एक-दूसरे की विरोधी है। यहूदी और ईसाई अपनी प्रजाति के एक-दूसरे के शत्रु होने के कारण एक-दूसरे से अलग कर दिए गए हैं। यहूदी प्रजाति ईसाई प्रजाति के विरुद्ध है। हिंदू और अस्पृश्य इस प्रकार की शत्रुता के कारण एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। उनकी एक ही प्रजाति है और उनके एक जैसे रीति-रिवाज हैं।

दूसरी बात यह है कि यहूदी, ईसाइयों से अलग-अलग रहना चाहते हैं। इन दो तथ्यों में से पहले तथ्य अर्थात यहूदियों और ईसाइयों में वैर-भाव का आधार यहूदियों की अपनी प्रजाति के प्रति कट्टर भावना है और दूसरा तथ्य ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित लगता है। प्राचीन-काल में ईसाइयों ने यहूदियों को अपने साथ मिलाने के कई प्रयत्न किए, लेकिन यहूदियों ने इसका सदा प्रतिरोध किया। इस संबंध में दो घटनाएं उल्लेखनीय हैं –

पहली घटना नेपोलियन के शासन-काल की है। जब फ्रांस की राष्ट्रीय असेम्बली इस बात के लिए सहमत हो गई कि यहूदियों के लिए 'मानव के अधिकार' घोषित किए जाएं, तब अलसाके के व्यापारी संघ और प्रतिक्रियावादी पुरोहितों ने यहूदी प्रश्न को फिर उठाया। इस पर नेपोलियन

ने इस प्रश्न को यहूदियों को उनके द्वारा ही विचार करने के लिए सौंपने का निर्णय किया। उसने फ्रांस, जर्मनी और इटली के प्रमुख यहूदी नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया ताकि इस बात पर विचार किया जा सके कि क्या यहूदी धर्म के सिद्धांत, नागरिकता प्राप्त करने के लिए आवश्यक शर्तों के अनुरूप हैं अथवा नहीं। नेपोलियन यहूदियों को बहुसंख्यकों के साथ मिला देना चाहता था। इस सम्मेलन में एक सौ ग्यारह प्रतिनिधियों ने भाग लिया। यह सम्मेलन 25 जुलाई 1806 को पेरिस के टाउन हाल में हुआ, जिसमें बारह प्रश्न विचारार्थ रखे गए थे। ये प्रश्न मुख्य रूप से यहूदियों में देश-भक्ति की भावना, यहूदियों और गैर-यहूदियों के बीच विवाह होने की संभावना और इसकी कानूनी मान्यता से संबंधित थे। सम्मेलन में जो घोषणा की गई, उससे नेपोलियन इतना प्रसन्न हुआ कि उसने येरूस्लम की प्राचीन परिषद् के आधार पर यहूदियों की एक सर्वोच्च न्याय परिषद् (सैनहेंड्रिन) का आयोजन किया। उसने इसे विधान सभा का कानूनी दर्जा देना चाहा। इसमें फ्रांस, जर्मनी, हालैंड और इटली के इकहत्तर प्रतिनिधि शामिल हुए। इसकी अध्यक्षता स्ट्रासबर्ग के रब्बी सिनजेइम ने की। इसकी बैठक 9 फरवरी 1807 को हुई और इसमें एक घोषणा-पत्र स्वीकार किया गया, जिसमें इस बात के लिए सभी यहूदियों का आवाह्न किया गया कि वे फ्रांस को अपने पूर्वजों का निवास स्थान मान लें, इस देश के सभी निवासियों को अपना भाई समझें और यहां की भाषा बोलें। इसमें यहूदियों और ईसाइयों के बीच विवाह-संबंध उदार भाव से ग्रहण करने का भी अनुरोध किया गया, लेकिन इस घोषणा-पत्र में यह भी कहा गया कि ये विवाह-संबंध यहूदियों की धार्मिक महासभा द्वारा नहीं स्वीकृत किए जा सके। यहां यह उल्लेखनीय है कि यहूदियों ने अपने और गैर-यहूदियों के साथ विवाह-संबंध होने की स्वीकृति नहीं दी। उन्होंने इन संबंधों के विरुद्ध कुछ भी कार्रवाई न करने के बारे में सहमति मात्र दी थी।

दूसरी घटना तब की है, जब बटाविया गणराज्य की स्थापना 1795 में हुई थी। इसमें यहूदी संप्रदाय के अति-उत्साही सदस्यों ने इस बात पर दबाव डाला कि उन ढेर सारे प्रतिबंधों को समाप्त किया जाए, जिनसे यहूदी पीड़ित हैं। किंतु प्रगतिशील यहूदियों ने नागरिकता के पूर्ण अधिकार की जो मांग की थी; उसका एम्सटर्डम में रहने वाले यहूदियों के नेताओं ने पहले तो विरोध किया जो काफी आश्चर्य की बात थी। उनको आशंका थी कि नागरिक समानता होने से यहूदी धर्म की सुरक्षा खतरे में पड़ जाएगी, और उन्होंने घोषणा की कि उनके सहधर्मी अपने नागरिक होने के अधिकार का परित्याग

करते हैं, क्योंकि इससे उनके धर्म के निर्देशों के अनुपालन में बाधा पहुंचती है। इससे स्पष्ट है कि वहां के यहूदियों ने उस गणराज्य के सामान्य नागरिक के रूप में रहने की अपेक्षा विदेशी के रूप में रहना अधिक पसंद किया था।

ईसाइयों के स्पष्टीकरण का चाहे जो भी अर्थ समझा जाए, इतना तो स्पष्ट है कि उन्हें कम से कम इस बात का तो एहसास रहा है कि उनका यह प्रमाणित करना एक दायित्व है कि यहूदियों के प्रति उनका व्यवहार गैर-मानवीय नहीं रहा है। परंतु हिंदुओं ने अस्पृश्यों के साथ अपने व्यवहार के औचित्य को प्रमाणित करने की बात तो कभी सोची ही नहीं। हिंदुओं का दायित्व तो बहुत बड़ा है, क्योंकि उनके पास कोई वास्तविक कारण है ही नहीं, जिसके अनुसार वे अस्पृश्यता को उचित ठहरा सकें। वे यह नहीं कह सकते कि कोई व्यक्ति समाज में इसलिए अस्पृश्य है, क्योंकि वह कोढ़ी है या वह घिनौना लगता है। वे यह भी नहीं कह सकते कि उनके और अस्पृश्यों के बीच में कोई धार्मिक वैर है, जिसकी खाई को पाटा नहीं जा सकता। वे यह तर्क भी नहीं दे सकते कि अस्पृश्य स्वयं हिंदुओं में घुलना-मिलना नहीं चाहते।

लेकिन अस्पृश्यों के संबंध में ऐसी बात नहीं है। वे अर्थ में अनादि हैं और शेष से विभक्त हैं। लेकिन यह पृथकता, उनका पृथग्वास उनकी इच्छा का परिणाम नहीं है। उनको इसलिए दंडित नहीं किया जाता कि वे घुलना-मिलना नहीं चाहते। उन्हें इसलिए दंडित किया जाता है कि वे हिंदुओं में घुल-मिल जाना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि हालांकि यहूदियों और अस्पृश्यों की समस्या एक जैसी है क्योंकि यह समस्या दूसरों की पैदा की हुई है, तो भी वह मूलतः भिन्न है। यहूदी की समस्या स्वेच्छा से अलग रहने की है। अस्पृश्यों की समस्या यह है कि उन्हें अनिवार्य रूप से अलग कर दिया गया है। अस्पृश्यता एक मजबूरी है, पसंद नहीं।

□□

2

अस्पृश्य—उनकी संख्या

यह जानने से पहले कि अस्पृश्य होने का क्या अर्थ होता है, यह जानना आवश्यक है कि भारत में अस्पृश्यों की संख्या कितनी है? इसके लिए जनसंख्या रिपोर्ट देखनी होगी।

भारत में पहली बार आम जनगणना 1881 में हुई थी। 1881 की जनसंख्या रिपोर्ट में भारत की कुल जनगणना करने के लिए यहां की विभिन्न जातियों और प्रजातियों की सूची बनाने और उनका कुल योग करने के अतिरिक्त कुछ नहीं किया गया था। इस रिपोर्ट में विभिन्न हिंदू जातियों का उच्च या निम्न अथवा स्पृश्य या अस्पृश्य जातियों के रूप में कोई वर्गीकरण नहीं किया गया। दूसरी बार आम जनगणना 1891 में हुई। इस बार जनगणना आयुक्त ने देश की जनसंख्या को जाति, प्रजाति और उच्च या निम्न जाति के रूप में वर्गीकृत करने की कोशिश की। किंतु यह एक प्रयास मात्र था।

तीसरी बार आम जनगणना 1901 में हुई। इस बार जनगणना के लिए एक नया सिद्धांत अर्थात स्थानीय जनमत द्वारा स्वीकृत सामाजिक वरीयता के आधार पर वर्गीकरण का सिद्धांत अपनाया गया। इस पर उच्च जाति के हिंदुओं ने जाति के अनुसार उल्लेख किए जाने का तीव्र विरोध किया। उन्होंने जाति के बारे में पूछे गए प्रश्न को निकाल देने पर बल दिया।

किंतु जनगणना आयुक्त पर इस आपत्ति का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जनगणना आयुक्त की दृष्टि में जाति के आधार पर उल्लेख किया जाना महत्वपूर्ण और आवश्यक था। जनगणना आयुक्त ने यह तर्क दिया कि सामाजिक संस्था के रूप में जाति के गुण-दोष के बारे में चाहे कुछ भी कहा जाए, परंतु यह स्वीकार करना असंभव है कि भारत में जनसंख्या संबंधी समस्या पर कोई भी विचार-विमर्श, जिसमें जाति एक महत्वपूर्ण मुद्दा न हो, लाभप्रद हो सकता है। भारतीय समाज का ताना-बाना अभी जाति-व्यवस्था

पर आधारित है और भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों में परिवर्तन का निर्धारण अभी भी जाति के आधार पर होता है। प्रत्येक हिंदू (यहां इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जा रहा है) जाति में जन्म लेता है, उसकी वह जाति ही उसके धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक जीवन का निर्धारण करती है। यह स्थिति मां की गोद से लेकर मृत्यु की गोद तक रहती है। पश्चिमी देशों में समाज के विभिन्न स्तरों का निर्धारण, चाहे वह आर्थिक हो, शैक्षिक हो, या व्यावसायिक हो, जिन प्रधान तत्वों के द्वारा होता है, वे अदलते-बदलते रहते हैं, वे उदार होते हैं, और उनमें जन्म और वंश की कसौटी को बदलने की प्रवृत्ति होती है। भारत में आध्यात्मिक, सामाजिक, सामुदायिक तथा पैतृक व्यवसाय सबसे बड़े तत्व हैं, जो अन्य तत्वों की अपेक्षा प्रधान तत्त्व होते हैं। इसलिए पश्चिमी देशों में जहां जनगणना के समय आर्थिक अथवा व्यावसायिक वर्ग के आधार पर आंकड़े एकत्र किए जाते हैं, वहां भारत में जनगणना के समय धर्म और जाति का ध्यान रखा जाता है। राष्ट्रव्यापी और सामाजिक संस्था के रूप में जाति के बारे में कुछ भी क्यों न कहा जाए, इसकी उपेक्षा करने से कोई लाभ नहीं होगा और जब तक समाज में किसी व्यक्ति के अधिकार और उसके पद की पहचान जाति के आधार पर की जाती रहेगी, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि हर दस साल बाद होने वाली जनगणना से इस अवांछनीय संस्था के स्थाई होते जाने में सहायता मिलती है।

सन् 1901 की जनगणना के परिणामस्वरूप अस्पृश्यों की कुल जनसंख्या के बारे में कोई सटीक आंकड़े नहीं निकल सके। इसके दो कारण थे। पहला तो यह कि इस जनगणना में कौन अस्पृश्य है और कौन नहीं, इसे निश्चित करने के लिए कोई सटीक कसौटी नहीं अपनाई गई थी। दूसरे यह कि जो जातियां आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़ी हुई थीं और अस्पृश्य नहीं थीं, उन्हें भी अस्पृश्यों की जनसंख्या के साथ मिला दिया गया।

सन् 1911 की जनगणना में कुछ आगे काम हुआ और अस्पृश्यों की गणना बाकी लोगों से अलग करने के लिए दस मानदंड अपनाए गए। इन मानदंडों के अनुसार जनसंख्या अधीक्षकों ने उन जातियों और कबीलों की अलग-अलग गणना की, जो–

1. ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को नहीं मानते,

2. किसी ब्राह्मण या अन्य मान्यता प्राप्त हिंदू से गुरु-दीक्षा नहीं लेते,

3. वेदों की सत्ता को नहीं मानते थे।

4. बड़े-बड़े हिंदू देवी-देवताओं की पूजा नहीं करते,

5. ब्राह्मण जिनकी यजमानी नहीं करते,

6. जो किसी ब्राह्मण को ोहित बिल्कुल भी नहीं बनाते,

7. जो साधारण हिंदू म... े गर्भ–गृह में भी प्रवेश नहीं कर सकते,

8. जिनसे छूत लगती है,

9. जो अपने मुर्दों को दफनाते हैं, और

10. जो गोमांस खाते हैं और गाय की पूजा नहीं करते।

हिंदुओं से अस्पृश्यों को अलग मानने प मुसलमानों द्वारा सरकार को 27 जनवरी 1910 को प्रस्तुत किए अपने ए ज्ञापन में इस माग पर बल दिया गया कि उन्हें भारत की राजनीतिक संस्थाओं में प्रतिनिधित्व हिंदुओं की कुल जनसंख्या के अनुपात में न देकर उन हिंदुओं की जनसंख्या के अनुपात में दिया जाए जो स्पृश्य होते हैं, क्योंकि उनका यह तर्क था कि जो अस्पृश्य हैं, वे हिंदू नहीं हैं।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि 1911 की जनगणना से अस्पृश्यों की संख्या के निर्धारण की शुरुआत हुई। 1921 और 1931 की जनगणना में भी इन हिदायतों के अनुपालन की कोशिश जारी रखी गई।

साइमन कमीशन जो 1930 में भारत आया था, इन्हीं कोशिशों के परिणामस्वरूप कुछ-कुछ निश्चयपूर्वक यह बता सका कि ब्रिटिश भारत में अस्पृश्यों की जनसंख्या चार करोड़ 45 लाख है।

किंतु 1932 में जब लोथियन समिति पुनर्गठित विधान सभा के लिए मताधिकार के प्रश्न पर विचार करने के लिए भारत आई और उसने जांच करनी शुरू की तब हिंदुओं ने अचानक अपने तेवर बदल दिए और भारत में अस्पृश्यों की संख्या के बारे में जो आंकड़े साइमन कमीशन ने दिए थे उनको भारत में अस्पृश्यों की जनसंख्या के बारे में सही आंकड़ों के रूप में मानने से इंकार कर दिया। कुछ प्रांतों में तो हिंदुओं ने यहां तक कहा कि उनके प्रांत में कोई अस्पृश्य है ही नहीं। इसका कारण यह था कि तब तक हिंदुओं को अस्पृश्यों की स्थिति को खुले आम स्वीकार करने के खतरे का अहसास हो चुका था, क्योंकि इसका मतलब यह था कि हिंदुओं को जनसंख्या के आधार पर विधान सभा में जितना प्रतिनिधित्व मिला हुआ था, उसका कुछ अंश उनसे छिनकर अस्पृश्यों को मिल जाएगा।

सन् 1941 की जनगणना पर विचार करना व्यर्थ है, क्योंकि यह जनगणना युद्ध-काल में की गई और एक प्रकार से यह अनुमानित ही थी।

अंतिम जनगणना 1951 में हुई। निम्नलिखित आंकड़े जनगणना आयुक्त द्वारा जारी विवरण से लिए गए हैं। जनगणना आयुक्त ने भारत में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या पांच करोड़ 13 लाख बताई है।

सन् 1951 की जनगणना में, जिसमें भारत की कुल जनसंख्या 35 करोड़ 67 लाख बताई गई है, एक लाख 35 हजार लोगों की गणना नहीं की जा सकी, जिनसे संबंधित रिकार्ड जालंधर के जनगणना अधिकारी के कार्यालय में आग लग जाने के कारण नष्ट हो गया था।

पेंतीस करोड़ 67 लाख की कुल आबादी में से 29 करोड़ 49 लाख लोग ग्रामीण क्षेत्रों में हैं और छह करोड़ 18 लाख लोग शहरों में रहते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या चार करोड़ 62 लाख है, जब कि शहरों में उनकी जनसंख्या 51 लाख है।

कुल आबादी में गैर-कृषि कार्यों में लगे दस करोड़ 76 लाख लोगों में से एक करोड़ 32 लाख लोग अनुसूचित जातियों के हैं।

कुल आबादी में जिन लोगों या उनके आश्रितों के पास पूरी तरह या आंशिक रूप से अपनी-अपनी जमीनें हैं और जो खेती करते हैं, उनकी जनसंख्या 16 करोड़ 74 लाख है। इनमें से एक करोड़ 74 लाख लोग अनुसूचित जातियों के हैं। जिम लोगों के पास बिल्कुल भी या मुख्य रूप से अपनी-अपनी जमीनें नहीं हैं और जो खेती करते हैं, उनकी जनसंख्या पूरे भारत में तीन करोड 16 लाख है, इनमें से 56 लाख लोग अनुसूचित जातियों के हैं।

खेतिहर मजदूरों और उनके आश्रितों की कुल जनसंख्या पूरे भारत में चार करोड़ 48 लाख है। इनमें से एक करोड़ 48 लाख अनुसूचित जातियों के हैं।

गैर-कृषि वर्गों के आंकड़े इस प्रकार हैं–

कृषि को छोड़कर अन्य उत्पादन कार्य	: कुल तीन करोड़ 77 लाख। अनुसूचित जातियों के लोग 53 लाख।
वाणिज्य व्यवसाय	: कुल दो करोड़ 13 लाख। अनुसूचित जातियों के लोग नौ लाख।

परिवहन : कुल 56 लाख। अनुसूचित जातियों के लोग छह लाख।

अन्य सेवाएं और विविध साधन : कुल चार करोड़ 30 लाख। अनुसूचित जातियों के लोग 64 लाख।

अनुसूचित जाति के लोगों की कुल पांच करोड़ 13 लाख की जनसंख्या में से उत्तरी भारत (उत्तर प्रदेश) में एक करोड़ 14 लाख लोग; पूर्वी भारत (बिहार, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, असम, मणिपुर, त्रिपुरा) में एक करोड़ 28 लाख लोग; दक्षिणी भारत (मद्रास, मैसूर, ट्रावनकोर-कोचीन और कुर्ग) में एक करोड़ दस लाख लोग; पश्चिमी भारत (बंबई, सौराष्ट्र और कच्छ) में 31 लाख लोग; मध्य भारत (मध्य प्रदेश, मध्य भारत, हैदराबाद, भोपाल और विंध्य प्रदेश) में 76 लाख लोग; और उत्तर-पश्चिमी भारत (राजस्थान, पंजाब, पटियाला और पूर्वी पंजाब के राज्यों, अजमेर, दिल्ली, बिलासपुर और हिमाचल प्रदेश) में 52 लाख लोग अनुसूचित जाति के हैं।

❑❑

3

गुलाम-प्रथा और अस्पृश्यता

I

अस्पृश्यता पर लज्जित होने के बजाए, हिंदू उसे हमेशा उचित ठहराने की कोशिश करते हैं। इसके समर्थन में उनका यह कहना है कि अन्य देशों की तुलना में भारत में गुलाम-प्रथा कभी नहीं रही, और यह कि अस्पृश्यता किसी भी दशा में उतनी बुरी नहीं है, जितनी कि गुलाम-प्रथा है। ऐसा ही तर्क स्व. लाला लाजपतराय जैसे महान व्यक्ति ने '*अनहैपी इंडिया* नामक अपनी पुस्तक में दिया है। इस कथन का खंडन करने के लिए समय का अपव्यय करने की आवश्यकता नहीं थी, अगर बाकी दुनिया को, जिसने गुलाम-प्रथा से बुरी कोई प्रथा देखी ही नहीं, यह विश्वास नहीं होता कि अस्पृश्यता गुलाम-प्रथा से बुरी हो ही नहीं सकती।

इस तर्क का उत्तर तो यही है कि यह कहना सरासर झूठ बोलना है कि हिंदुओं में गुलाम-प्रथा कभी थी ही नहीं। यह तो हिंदुओं की एक अति-प्राचीन प्रथा है। इसे हिंदुओं के विधि-निर्माता मनु ने मान्यता प्रदान की और उनके बाद उनका अनुसरण करने वाले अन्य स्मृतिकारों ने इसे व्यापक बनाया और व्यवस्थित रूप दिया। हिंदुओं में गुलाम-प्रथा केवल एक प्राचीन प्रथा के रूप में नहीं थी जो केवल धुंधले अतीत में प्रचलित रही हो, बल्कि यह तो एक ऐसी संस्था थी जो भारत के इतिहास में 1843 तक प्रचलित रही और अगर अंग्रेजी सरकार इसे उस वर्ष कानून बनाकर समाप्त न कर देती, तो शायद यह आज भी प्रचलित होती।

अस्पृश्यता और गुलाम-प्रथा में कौन-सी प्रथा अच्छी या बुरी है, इसे आधार मानकर उठाए जाने वाले तर्क का उत्तर देने के लिए सबसे अच्छा उपाय इन दोनों के बीच अर्थात अस्पृश्यता का गुलाम-प्रथा के साथ, जैसी कि यह प्राचीन रोम और आधुनिक अमरीका में थी, तुलना करना और उनके अंतर को स्पष्ट करना है।

रोम साम्राज्य में व्यवहार में गुलामों की क्या स्थिति थी? जहां तक मेरी जानकारी है, इसका सबसे अच्छा विवरण श्री बैरो की *'स्लेवरी इन रोमन एम्पायर'* नामक पुस्तक में मिलता है। श्री बैरो लिखते हैं[1] :

"अब तक जो चित्रण किया गया, वह घरों की गुलाम-प्रथा का घृणित पक्ष है। इसका एक दूसरा पक्ष भी है। साहित्य में घरों को सामान्य रूप में चित्रित किया गया है। निश्चय ही यह अपवाद स्वरूप है। निस्संदेह गुलाम भारी संख्या में होते थे, और ये प्रायः रोम में पाए जाते हैं। इटली और अन्य प्रांतों में दिखाने के लिए इनकी आवश्यकता घरों में कम थी। इनके गुलाम भारी संख्या में खेतों में काम करने और इससे जुड़े उत्पादकता कार्यों के लिए लगाए जाते थे। वहां इन गुलामों के बीच आपसी संबंध ठेकेदार और मजदूरों के बीच जैसा होता था, उनमें से एक उनका मुखिया होता था, बाकी उसके अधीन काम करते थे। प्लिनी का अपने गुलामों के प्रति दयापूर्ण व्यवहार प्रसिद्ध है। वह अपने गुलामों के प्रति यह व्यवहार धार्मिक भावना से प्रेरित होकर या इस इच्छा से नहीं करता था कि आगे आने वाली पीढ़ी की दृष्टि में वह अच्छा समझा जाएगा और यह पीढ़ी उसके उन पत्रों को पढ़ेगी जिसमें उसने अपने गुलामों की मुसीबतों और मृत्यु का वर्णन किया है। प्रत्येक घर (या प्लिनी) उसके गुलामों के लिए मानो एक गणराज्य था। प्लिनी का अपने गुलामों के साथ व्यवहार सामान्य या कभी-कभी के व्यवहार की तुलना में इतना अच्छा मान लिया जाता है कि उसे कोई ठोस साक्ष्य नहीं माना जाता है। इस दृष्टिकोण के लिए कोई कारण समझ में नहीं आता।

अमीर लोग कुछ तो दिखावे के लिए और कुछ सचमुच साहित्यिक रुचि के कारण अपने-अपने घरों में ऐसे गुलाम रखा करते थे, जो साहित्य और कला में दक्ष होते थे। 'क्लाविससेस सेबीनस' के बारे में 'सैनेडा' का कहना है कि उसने अपने ग्यारह गुलामों को होमर, हैसीओइड और नौ अन्य गीतकारों की रचनाएं कंठस्थ करा दी थीं। जब उसके एक मित्र ने इस पर यह टिप्पणी की कि 'इससे सस्ती तो किताबों की अलमारियां होंगी, तब यह उत्तर दिया गया कि 'नहीं, जो घर का मालिक जानता है, घर के सभी लोग भी वही जानें।' इन अतिशयोक्तियों के अलावा, सच्चाई तो यह है कि छपाई आदि की सुविधा नहीं होने के कारण पढ़े-लिखे गुलाम आवश्यक समझे जाते होंगे। व्यस्त वकील, काव्यप्रेमी,

1. *'स्लेवरी इन रोमन एम्पायर'*, पृ. 47-49

कवि, दार्शनिक और साहित्यिक अभिरुचि के व्यक्तियों को नकलनवीसों, रीडरों और लिपिकों की आवश्यकता होती थी। ऐसे लोग स्वाभाविक रूप से भाषा वैज्ञानिक भी होते थे। एक पुस्तक विक्रेता का दावा है कि वह लैटिन और ग्रीक साहित्य का विद्वान है। आशुलिपिकों की भरमार थी। निजी और सार्वजनिक पुस्तकालयों में लायब्रेरियन होते थे। ... शासन में आशुलिपि की सहायता लेना साधारण बात थी, और गुलाम नाजिरों को नियमित नौकरियां मिलती थीं। एक विशेष शोध-प्रबंध में स्नेटोनियस ने बहुत से मुक्त गुलाम शास्त्रकारों और वैय्याकरणिकों का उल्लेख किया है। आस्टस के पोते का अध्यापक वैरीअस फलाकस था, और उसकी मृत्यु हो जाने पर उसकी मूर्ति लगाकर उसका सार्वजनिक रूप से सम्मान किया गया। स्क्रीबोनियस एफ्रोडीसियस एक गुलाम था। वह ओरबीलियस का शिष्य था, जो बाद में स्क्रीबेनिया द्वारा आजाद कर दिया गया था। हाईजीनियस, पैलेटाइन पुस्तकालय का लायब्रेरियन था। इस कार्यालय में उसके पश्चात उसी के द्वारा आजाद किए गए जूलियस मोडेसटस नामक गुलाम को नियुक्त किया गया। हमें एक गुलाम दार्शनिक का भी पता चलता है, जिसके अनेक मुक्त किए गए गुलाम इतिहासकार होते थे। इस दार्शनिक को अपने मालिक, गुलामों के दोस्तों, और मुक्त हुए गुलाम वास्तुकारों के साथ बहस के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। शिलालेखों में मुक्त किए ऐसे गुलामों का बार-बार उल्लेख मिलता है, जो डाक्टर होते थे। इनमें से कुछ विशेषज्ञ भी थे। जैसा कि एक या दो उदाहरणों से पता चलता है, इनका प्रशिक्षण बड़े-बड़े घरानों में गुलाम के रूप में हुआ। ये कुछ दिन पश्चात प्रख्यात हो गए और मोटी फीस लेने के लिए बदनाम हो गए।

समाज के कुछ वर्गों द्वारा नर्तकों, गायकों, संगीतकारों, खेलकूद प्रशिक्षकों आदि की मांग हुई। गुलामों में इस कोटि के लोग भी हुए। इनमें से कुछ को शिक्षकों द्वारा प्रशिक्षित भी किया गया और उन्होंने ख्याति अर्जित की।[1]

आगस्टस के समय में वाणिज्य और उद्योगों का विस्तार हुआ। इससे पहले भी गुलामों को (कला और शिल्प) के कार्यों में लगाया जाता था। परंतु व्यापार में अचानक वृद्धि हो गई, अन्यथा उन्हें अधिक संख्या में रखना व्यर्थ होता। रोम निवासी और भी खुलकर विभिन्न व्यावसायिक और औद्योगिक गतिविधियों में लग गए। चूंकि व्यापारिक गतिविधियां और अधिक बड़े पैमाने पर होने लगीं और दलालों का महत्व और अधिक बढ़ गया,

1. *'स्लेवरी इन रोमन एम्पायर'*, पृ. 63

तो भी ये दलाल वही होते थे जो गुलाम थे। यह इस कारण था कि गुलामों की शर्तें लचीली होती थीं। यह इसलिए भी लचीली होती थीं कि जिससे किसी भी गुलाम को यह लालच दिया जा सके कि वह धन और स्वतंत्रता की आशा से कार्य करे और उनमें इतनी बंदिश भी रहे कि जिससे गुलाम द्वारा अपने मालिक को अपने दुर्व्यवहार के कारण हुए नुकसान की भरपाई करने की गारंटी भी रहे। व्यापार में किसी गुलाम और उसके मालिक अथवा अन्य व्यक्ति के बीच व्यावसायिक शर्तें आम बात थी और इस प्रकार किया गया कार्य निस्संदेह बहुत लाभकारी था। ... गुलामों को भूमि किराए पर देने की प्रथा का ऊपर जिक्र किया जा चुका है ... और यह प्रणाली उद्योगों में कई रूपों में प्रचलित थी। मालिक किसी भी गुलाम को अपने बैंक या जहाज के उपयोग की इजाजत दे सकता था, लेकिन शर्त यह होती थी कि वह उसे इसके बदले में निश्चित राशि या कमीशन देगा।[1]

ये गुलाम जो कुछ कमाते, वह कानून की दृष्टि में उनकी संपत्ति बन गई और जिसे वे विभिन्न प्रयोजनों पर खर्च कर सकते थे। निस्संदेह अधिकांश मामलों में यह धनराशि या तो भोजन पर खर्च होती या आमोद-प्रमोद पर खर्च होती। यह संपत्ति कोई थोड़ी बचत नहीं होती थी जिसे वह कभी-कभी कमाते और मौज-मस्ती के लिए उड़ा देते हों। जो गुलाम अपने मालिक के कारोबार को इस लायक बना देते कि उससे लाभ होने लगे और उन्हें खुद भी लाभ हो, वे यह भी कोशिश करते कि उन्होंने जो कुछ खर्च कर दिया है उसकी भरपाई भी हो जाए। वह अपनी इस अतिरिक्त आय को अपने मालिक के कारोबार में या उससे भिन्न किसी दूसरे कारोबार में फिर से लगा देते। वह अपने मालिक के साथ व्यापारिक संबंध रखते और मालिक उन्हें बराबर का हिस्सेदार मान लेते या वे किसी के साथ करार करते। वह अपनी संपत्ति अथवा अपने कारोबार के इंतजाम के लिए मुख्तार भी रख लेते और इस प्रकार उनकी संपत्ति में केवल भूमि, भवन, दुकानें ही नहीं होती थीं, बल्कि अधिकार-पत्र और दावे भी होते थे।

व्यापार में लगे गुलामों के अनगिनत कारोबार होते, उनमें से बहुत से दुकानदार होते जो खाने की तरह-तरह की सामग्री बेचते जैसे रोटी, मांस, नमक, मछली, शराब, सब्जियां, फल, शहद, दही, बत्तखें और ताजा मछलियां आदि। कुछ गुलाम कपड़े, चप्पलें, जूते, गाउन और मेंटल आदि बेचते थे। रोम में सर्कस मामीमस या पोर्टिकस ट्रिगमिमस या इसक्विलाइन

1. *'स्लेवरी इन रोमन एम्पायर'*, पृ. 101-102

मार्केट या दि ग्रेट मार्ट (कैंओलिन पहाड़ी पर स्थित) या सुबर्रा नामक स्थानों पर इनकी दुकानें थीं।[1] ...

पोम्पेई में सैसीलियस जुकुंडस के घर पर जो रसीदें मिलीं, उनसे यह स्पष्ट पता चलता है कि ये गुलाम कितनी अधिक संख्या में अपने-अपने मालिकों के यहां मुख्तार और एजेंटों के रूप में काम किया करते थे।[2]

यह बात कोई आश्चर्यजनक नहीं लगती कि राज्य के अधीन भी गुलाम हुआ करते थे। आखिरकार युद्ध करना तो राज्य का ही कार्य था और इससे जो बंदी बनाए जाते, वह राज्य की ही तो संपत्ति होती थी। आश्चर्यजनक तो यह है कि राज्य में इन गुलामों से बड़े-बड़े काम लिए जाते और यह कि इन्हें समाज में विशेष पद प्राप्त थे।

किसी साम्राज्य के लिए 'राज्य का गुलाम' शब्द का अर्थ यह होने लगा कि वह गुलाम राज्य में शासन के विभिन्न पदों में से किसी पद पर नियुक्त है, उसका एक निश्चित कर्तव्य है तथा समाज में प्रायः उसकी एक प्रतिष्ठा है। राज्य के गुलाम, नगर के गुलाम और सीजर के गुलाम से क्रमशः ऐसे कर्मचारियों का बोध होने लगा, जैसे कि आजकल सिविल सेवाओं के उच्च और समस्त अवर पद या नगर निगम में कार्यरत कार्मिक होते हैं। (कोषागार के) अधीनस्थ अनेक लिपिक और वित्तीय अधिकारी काम करते थे। इनमें सभी मुक्त गुलाम होते थे। ये लोग जो व्यवसाय करते, उसका क्षेत्र व्यापक होता... जैसे टकसाल ... यहां इसका प्रधान कोई सामंत होता, जो सारी टकसाल का अधिकारी होता था... इसके अधीन एक मुक्त गुलाम होता और उसके अधीन अनेक मुक्त गुलाम और गुलाम होते थे। लेकिन कुछ विशेष संकट के समय एक या दो अवसरों को छोड़कर इन गुलामों को एक कार्य से बिल्कुल अलग रखा जाता था। उन्हें सेना में शामिल होकर युद्ध करने की अनुमति नहीं थी, क्योंकि ये इस सम्माननीय कार्य के योग्य नहीं समझे जाते थे। हो सकता है कि इसके अन्य कारण भी हों, अधिक संख्या में गुलामों का शस्त्रास्त्रों के प्रयोग का विधिवत प्रशिक्षण खतरनाक प्रयोग हो सकता था। अगर इन्हें सेना में रख भी लिया जाता, तो इन्हें युद्ध करने बहुत कम भेजा जाता और इन्हें नियमित रूप से सेना के हरावल में रखा जाता था, जहां ये भारी संख्या में सेवक के रूप में काम करते और इनसे रसद पहुंचाने की ढुलाई करने का काम लिया जाता था। नावों के बेड़ों में गुलाम काफी संख्या में होते थे।[3]

1. *'स्लेवरी इन रोमन एम्पायर'*, पृ. 105
2. *वही*, पृ. 106
3. *वही*, पृ. 130-47

II

अब हम अमरीका में नीग्रो लोगों के बारे में उनके उस युग की वास्तविक दशा पर विचार करेंगे, जब कानून की दृष्टि में वे गुलाम माने जाते थे। यहां कुछ ऐसे तथ्य[1] दिए जा रहे हैं, जिनसे उनकी दशा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है :

लैफायत ने स्वयं यह देखा कि क्रांति के दौरान श्वेत और अश्वेत नाविकों और सैनिकों ने एकजुट हो आपस में बिना किसी कटुता के संघर्ष किया। उत्तरी कैरोलिना के ग्रानविले काउंटी में जॉन चैविस नामक एक मूल नीग्रो था, जिसकी शिक्षा-दीक्षा प्रिंसटन विश्वविद्यालय में हुई थी। वह श्वेत छात्रों के लिए एक प्रायवेट स्कूल चलाता था। उसे स्थानीय चर्च द्वारा राज्य में श्वेतों की सभाओं में प्रवचन करने का भी अधिकार मिला हुआ था। उसके शिष्यों में से एक शिष्य उत्तरी कैरोलिना का गवर्नर और दूसरा राज्य का एक प्रमुख विग सीनेटर भी हुआ। उसके दो शिष्य उत्तरी कैरोलिना के मुख्य न्यायाधीश के पुत्र थे। राज्य की सबसे बड़ी सैनिक अकादमी के संस्थापक का पिता उसके स्कूल में पढ़ा और उसी के घर में रहा। ... इस प्रकार गुलाम हर प्रकार का कार्य करते थे। नीग्रो गुलामों में जो अधिक प्रतिभाशाली होते थे, उन्हें कारीगर का प्रशिक्षण दिया जाता था, जिससे उनका उपयोग हो सके और उनकी सेवाएं ठेके पर दी जा सकें। गुलाम कारीगरों से बाजार में उपलब्ध दूसरे सामान्य कारीगरों की अपेक्षा दुगुनी आय होती थी। उस्ताद कारीगरों के अपने कर्मचारी होते थे। चूंकि इस पद्धति का विकास होता गया, कुछ उस्ताद कारीगर अपने गुलाम कारीगरों के लिए भाड़े पर गुलामों को रखने लगे। बहुत से गुलाम कारीगर अपनी बचत से जो उन्हें सामान्यतः किए गए काम से अधिक काम करने से होती, उन्हें खरीद लिया करते थे।

काम छोड़कर भाग जाने वाले गुलामों और उनकी बिक्री के बारे में जो विज्ञापन प्रकाशित होते, उनसे इस परिपाटी के विकसित हो जाने की पुष्टि होती है। इन लोगों को गरीब श्वेत मजदूरों के बराबर या उनसे अधिक वेतन मिलता और अपने उस्तादों के प्रभाव से अच्छे से अच्छा काम मिल जाता था। 1838 में एथेन्स और जार्जिया में चिनाई व लकड़ी का काम करने वालों के ठेकेदारों को एक याचिका दी गई

1. *'दि नीग्रो इन अमरीकन सिवीलाइजेशन', चार्ल्स सी जॉनसन*

कि वे नीग्रो मजदूरों को तरजीह देना बंद कर दें। 'कानूनी तौर पर, नैतिक दृष्टि से और नागरिकता की दृष्टि से इस देश और राज्य के असली मालिक श्वेत हैं। उनके स्वामित्व का अधिकार तभी स्थापित हो गया था, जब श्वेत जाति के कोपरनिकस और गैलिलियो ने पृथ्वी को गोलाकार साबित कर दिया था। इसका ज्ञान एक अन्य श्वेत व्यक्ति कोलंबस को भी था, जिसने पश्चिम की ओर चलकर इस भूमि का पता लगाया। इसलिए एक श्वेत व्यक्ति ने ही इस महाद्वीप की खोज की। इस प्रकार आप उसी वर्ग के व्यक्तियों को रोजी-रोटी से वंचित कर रहे हैं, उनके परिवार का पेट काट रहे हैं। आप सौदेबाजी में भी उन्हें काम न देकर नीग्रो लोगों का पक्ष ले रहे हैं।' 1858 में अटलांटा में श्वेत मिस्त्रियों और मजदूरों ने उस्तादों के अश्वेत गुलाम कारीगरों के खिलाफ याचिका दी, जो अलग कालोनी में रह रहे थे। उसके अगले वर्ष ही बहुत से श्वेत नागरिकों ने इस बात पर आपत्ति प्रकट की कि नगर परिषद् ने उनकी कालोनी में एक नीग्रो दंत चिकित्सक को डाक्टरी की इजाजत दे रखी है। 'हमारे और समाज के साथ न्याय करने के लिए उस पर रोक लगाई जाए। हम अटलांटा के नागरिक आप से न्याय की गुहार करते हैं।' जार्जिया के रिचमंड काउंटी में 1819 में स्वतंत्र नीग्रो वर्ग की जनगणना से पता चला है कि उनमें बढ़ई, नाई, बोटकोर्कर, जीनसाज, चर्खा कातने वाले, मिलराइट, होल्स्टर, जुलाहे, करघा बनाने वाले, आरा मशीन चलाने वाले और स्टीम बोट पायलेट थे। एक नीग्रो मोची ने अपने हाथ से जूते बनाए थे, जो राष्ट्रपति मुनरो ने अपना पद ग्रहण करते समय पहने थे। मोंटीसेलो में थामस जेफर्सन के घर पर जिस खूबसूरती से एक गुलाम ने टाइलें बिछाई थीं, उसे देख हैरियत मार्टीन्यू को दंग रह जाना पड़ा था। आज भी पुराने बाग में यह भवन मौजूद है, जिसमें इन नीग्रो कारीगरों का कमाल देखने को मिलता है। इन लोगों ने ओक वृक्षों के तनों को चीरकर उसे उन्हीं वृक्षों की लकड़ी के कीलों को जोड़-जोड़ कर तैयार किया था। कताई और बुनाई में प्रवीण नीग्रो स्त्रियां मिलों में कार्य करती थीं। बकिंघम ने 1839 में एथेंस और जार्जिया में देखा कि ये नीग्रो श्वेत लड़कियों के साथ कार्य कर रहे थे और उनमें श्वेत लड़कियों के प्रति तिरस्कार या आपत्ति की कोई भावना नहीं थी। दक्षिण के नीग्रो कारीगर चाहे वे गुलाम होते या मुक्त, सभी अपने उत्तरी क्षेत्र के भाइयों से बेहतर थे। फिल्डेल्फिया में 1856 में लोगों की चिढ़ के कारण 1,637 नीग्रो कारीगरों में से दो तिहाई से भी कम अपना धंधा कर पाते थे। उत्तर

में आयरिश लोगों को जो 19वीं शताब्दी के शुरू से ही अमरीका में आने शुरू हो गए थे, उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर काम पर लिया जाने लगा, जो नीग्रो गुलामों पर लागू होते थे। उनके पक्ष में कहा गया था कि एक आयरिश कैथोलिक मुश्किल से ही अपनी स्थिति को सुधार पाता है, जब कि इस बारे में नीग्रो लोग सफल हो जाते हैं। जिस समय अश्वेत गुलामों की खरीद-फरोख्त का चलन था तो क्या ओलीवर क्रोमवेल ने उन सभी आयरिश लोगों को बेच नहीं दिया था जो फ्लोरिडा के ड्रोघेदा नरसंहार से बच बार्बेडोस भाग आए थे। न्यूयार्क और पैंसिलवानिया के मुक्त और भगोड़े नीग्रो लोगों का इन लोगों के साथ बराबर टकराव होता रहता था। इस टकराव का सबसे भयंकर रूप उन दंगों में देखने के लिए मिला, जो न्यूयार्क में भड़क उठे थे। इन मूल आयरिश लोगों का मकान बनाते समय बेलदार के रूप में काम पर और छोटे-बड़े कामों पर एकाधिकार था। इसलिए वे नीग्रो लोगों की किसी भी ऐसी कोशिश पर भड़क उठते, जो उन्हें अपनी रोजी-रोटी के लिए खतरा लगती।

III

यह रोमन गुलामों और अमरीका के नीग्रो गुलामों की यथार्थ स्थिति थी। क्या भारत में अस्पृश्यों की स्थिति में कहीं कोई ऐसी बात है, जिसकी रोमन गुलामों और नीग्रो गुलामों की स्थिति से तुलना की जा सके? अगर हम रोमन और नीग्रो गुलामों की स्थिति के साथ अस्पृश्यों की स्थिति की तुलना करने के लिए समान युग का चयन करें तो यह अनुचित नहीं होगा। लेकिन मैं आज के अस्पृश्यों की तुलना गुलामों की उस दशा से करना अनुचित नहीं समझता, जो रोमन साम्राज्य में उनकी थी। यह तुलना ऐसी होगी कि हम बदतर स्थिति की तुलना किसी श्रेष्ठ स्थिति से कर रहे हैं, क्योंकि अस्पृश्यों के संबंध में उनकी आज की स्थिति स्वर्णिम स्थिति समझी जाती है। आज की अस्पृश्यों की वास्तविक स्थिति गुलामों की वास्तविक स्थिति से कितनी भिन्न है? आज कितनी संख्या में अस्पृश्य लायब्रेरियन, स्टेनोग्राफर आदि जैसे व्यवसायों में लगे हुए हैं, जितने कि इन व्यवसायों में रोम में गुलाम नियुक्त थे? आज कितने अस्पृश्य वाक्पटु, भाषाविज्ञानी, दार्शनिक, अध्यापक, डाक्टर और कलाकार हैं और बौद्धिक कार्यकलाप करते हैं, जैसा कि रोम में गुलाम किया करते थे। क्या रोम के गुलामों की तरह भारतीय

अस्पृश्यों से ये काम कराए जाते हैं, क्या कोई हिंदू ऐसी हिम्मत रखता है कि इन प्रश्नों का उत्तर 'हां' कह कर दे? अस्पृश्यों के लिए ये सारे रास्ते पूरी तरह बंद हैं, जब कि रोमन गुलामों के लिए ये पूरी तरह खुले हुए थे। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हिंदू अस्पृश्यता को उचित ठहराने के लिए जो दलील देते हैं, कितनी सारहीन है। दुख तो इस बात का है कि अधिकांश लोग गुलामी को मात्र इसलिए बुरा बताते हैं कि इसमें कानून द्वारा एक व्यक्ति के जीवन का जो अधिकार दूसरे को सौंप दिया जाता है, वह गलत है। वे यह भूल जाते हैं, चाहे गुलाम-प्रथा हो या न हो, जुल्म, उत्पीड़न, क्रूरता और प्रताड़ना बनी ही रहती है, जिससे पीड़ा, हताशा और नैराश्य का जन्म होता है। जो लोग गुलामों की उपरोक्त यथार्थ स्थिति पर विचार करेंगे, उन्हें यह मानना पड़ेगा कि गुलाम-प्रथा को उसकी कानूनी अवधारणा पर हल्के-फुल्के ढंग या तपाक से बुरा कह देना निरर्थक बात होगी। जो कुछ कानून अनुमति देता है, वह समाज में प्रचलित व्यवस्था का साक्ष्य नहीं है। बहुत से गुलाम यह स्वीकार कर लेंगे कि उनके पास जो कुछ है, वह गुलाम-प्रथा के कारण ही है, और बहुतों ने संपदा अर्जित की, चाहे उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया हो अथवा नहीं।

यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि गुलाम-प्रथा कोई स्वतंत्र समाज-व्यवस्था नहीं है। किंतु क्या अस्पृश्यता एक स्वतंत्र-व्यवस्था है? जो हिंदू अस्पृश्यता का समर्थन करते हैं, निस्संदेह वे कहेंगे कि 'हां, यह स्वतंत्र समाज-व्यवस्था है।' वे यह भूल जाते हैं कि गुलामी और अस्पृश्यता में अनेक प्रकार के अंतर हैं, और इनके कारण ही अस्पृश्यता परतंत्र समाज-व्यवस्था का सबसे अधिक कुत्सित रूप है। गुलामी कभी अनिवार्य नहीं रही, परंतु अस्पृश्यता अनिवार्य व्यवस्था है। कोई व्यक्ति किसी को भी गुलाम के रूप में रख सकता था। यदि वह किसी को गुलाम न रखना चाहे, तब उस पर ऐसा न करने की कोई पाबंदी नहीं। परंतु अस्पृश्यता के संबंध में कोई विकल्प नहीं। अगर कोई एक बार अस्पृश्य के घर में जन्म ले ले, तब वह सब तरह से अस्पृश्य हो जाएगा। गुलाम-प्रथा के कानूनों में मुक्ति का विधान है। कोई व्यक्ति यदि एक बार गुलाम हो गया, तो यह आवश्यक नहीं कि वह जीवन-भर गुलाम ही रहेगा। अस्पृश्य होने पर वह उससे बच नहीं सकता। एक बार अस्पृश्य, तो हमेशा के लिए अस्पृश्य। दूसरा अंतर यह है कि अस्पृश्यता गुलामी का एक अप्रत्यक्ष रूप है और इसलिए अत्यंत

कुत्सित है। किसी व्यक्ति को उसकी स्वतंत्रता से खुले तौर पर और प्रत्यक्ष रीति से वंचित कर देना गुलाम बनाने की बेहतर प्रथा है। इससे एक गुलाम को अपनी गुलामी का अहसास रहता है और यह प्रतीति ही आजादी की लड़ाई का सबसे पहला और अमोघ अस्त्र है। परंतु यदि किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता अप्रत्यक्ष रीति से छीन ली जाए, तब उसे अपने गुलाम होने का अहसास ही नहीं होगा। अस्पृश्यता गुलाम-प्रथा का एक अप्रत्यक्ष रूप है। किसी अस्पृश्य से कहा जाए कि 'तुम स्वतंत्र हो, तुम एक नागरिक हो, तुमको नागरिकता के सभी अधिकार प्राप्त हैं,' और उसे रस्सी से इस तरह बांध दिया जाए कि वह स्वतंत्र होने का अनुभव भी न कर सके, तब यह निर्दयतापूर्वक धोखा देना है। अस्पृश्यों को उनकी गुलामी का अहसास न होने देना उनको गुलाम बनाना है। यह अस्पृश्यता है, तो भी यह गुलामी है। यह यथार्थ है, हालांकि यह अप्रत्यक्ष है। यह अव्यक्त है, इसलिए यह स्थाई है। इन दोनों व्यवस्थाओं में से अस्पृश्यता निस्संदेह बुरी है।

न तो गुलामी ही स्वतंत्र समाज-व्यवस्था है, और न ही अस्पृश्यता। परंतु यदि इन दोनों में अंतर किया जाए, और इस बात में कोई संदेह भी नहीं है कि इन दोनों में अंतर है, तो इस अंतर की कसौटी यह होगी कि क्या गुलामी की स्थिति में शिक्षा, नैतिक आदर्श, सुख, संस्कृति और समृद्धि संभव है, या यह अस्पृश्यता की स्थिति में संभव है। अगर इस कसौटी पर इन दोनों स्थितियों को परखा जाए, तब निस्संदेह यह पता चलेगा कि गुलामी की स्थिति सौ दर्जे अच्छी है। गुलामी में शिक्षा, नैतिक आदर्श, सुख, संस्कृति और समृद्धि की गुंजाइश है। अस्पृश्यता में तो इनमें से किसी की गुंजाइश नहीं। अस्पृश्यता में गुलामी जैसी परतंत्र समाज-व्यवस्था के लाभ की कोई संभावना नहीं। इसमें स्वतंत्र व्यवस्था की सारी हानियां विद्यमान हैं। गुलामी जैसी परतंत्र समाज-व्यवस्था में कुछ लाभ भी हैं, जैसे व्यापार, दस्तकारी या कला का अनुभव, या जैसा कि प्रोफेसर मूरेस ने इसे 'उच्च संस्कृति की दीक्षा का सोपान' कहा था। गुलामी की प्रथा में, विशेषकर जो प्रथा रोमन साम्राज्य में प्रचलित थी, उसमें अस्पृश्यता को समाप्त करने या व्यक्तिगत विकास की बाधाओं की अस्वीकृति का प्रश्न ही नहीं हुआ। इसलिए अभी यह कहना जल्दबाजी होगी कि गुलामी की प्रथा अस्पृश्यता से बेहतर है।

इस प्रकार यह प्रशिक्षण, संस्कृति से परिचय निस्संदेह गुलामों के लिए एक बहुत बड़ी नियामत थी। इसमें मालिकों को अपने गुलामों के प्रशिक्षण

और उन्हें सुसंस्कृत करने पर काफी धन खर्च करना पड़ता था। 'गुलामों के रूप में रखने से पूर्व बहुत कम गुलाम ऐसे मिलते थे, जो शिक्षित या दीक्षित होते थे। इसका उपाय यही था कि उन्हें छोटी अवस्था से ही घरेलू कामों में प्रशिक्षित कर दिया जाए या कारीगरी सिखा दी जाए, जैसा कि साम्राज्य की स्थापना के पूर्व कुछ मात्रा में ज्येष्ठ काटो ने किया था। यह प्रशिक्षण उनके मालिकों और उनके यहां मौजूद कार्मिकों द्वारा दिया जाता था। दरअसल अमीर घरों में विशेष प्रशिक्षक होते थे। यह प्रशिक्षण कई प्रकार के क्षेत्रों में दिया जाता था, जैसे उद्योग, व्यापार, कला और साहित्य।'

ये मालिक अपने गुलामों को अच्छे से अच्छे कामों और संस्कृति में क्यों प्रशिक्षित करते थे, निस्संदेह उनका उद्देश्य इनसे आर्थिक लाभ प्राप्त करना होता था। कुशल श्रमिक अकुशल श्रमिक की तुलना में अधिक मूल्यवान मद होती थी। उसे बेचने पर उसकी कीमत ज्यादा मिलती और भाड़े पर चढ़ाने पर उसकी मजदूरी भी ज्यादा मिलती थी। इसलिए मालिकों द्वारा गुलामों को शिक्षित करना मानो पूंजी निवेश करना था।

गुलाम-प्रथा जैसी परतंत्र समाज-व्यवस्था में गुलामों का भरण-पोषण करना और उन्हें स्वस्थ रखना उनके मालिकों का दायित्व था। गुलाम को अपने भोजन, कपड़ों और अपनी रिहायश के बारे में चिंता से मुक्त रखा जाता था। इस सबकी व्यवस्था करने के लिए मालिक बाध्य होता था। यह उसके मालिक के लिए बोझ नहीं होता था, क्योंकि गुलाम अपने ऊपर होने वाले खर्च से ज्यादा कमा लेता था। लेकिन हर स्वतंत्र व्यक्ति के लिए अपनी रोजी-रोटी और मकान की कोई सुरक्षित व्यवस्था हमेशा संभव नहीं होती है, क्योंकि श्रमिक अपनी-अपनी कीमत जानते हैं। जो काम करने के लिए तैयार है, उस तक को काम नहीं मिलता और श्रमिक के संबंध में ऐसा कोई नियम भी नहीं है, जिसके अधीन उसे उन दिनों तक दाना-पानी मिल सके, जब तक उसे कोई काम नहीं मिल जाता है। यह नियम कि काम नहीं तो रोटी नहीं, गुलामों पर नहीं लागू होता है। उसके लिए रोटी के साथ-साथ काम ढूंढने की जिम्मेदारी मालिक पर होती है। अगर मालिक उसके लिए काम ढूंढने में असफल रहता है, तो इससे गुलाम का अपने लिए रोटी मिलने का अधिकार नहीं छिन जाता है। व्यापार में उतार-चढ़ाव, लाभ और हानि सामान्य परिवर्तन हैं, जिन्हें हर स्वतंत्र श्रमिक को भोगना होता है। लेकिन इनका गुलामों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इनका प्रभाव

उसके मालिक पर तो पड़ सकता है, लेकिन गुलाम इन सबसे मुक्त है। उसे अपनी रोटी, शायद वही रोटी मिलती है, चाहे लाभ के दिन हों या घाटा हो रहा हो।

गुलाम-प्रथा जैसी परतंत्र समाज-व्यवस्था में गुलाम के स्वास्थ्य और उसके कुशल-क्षेम का ध्यान रखने के लिए उसका मालिक बाध्य है। गुलाम, मालिक की संपत्ति था। लेकिन गुलामों की यही निर्भरता स्वतंत्र व्यक्ति के मुकाबले उनके लिए वरदान बन गई। वे संपत्ति स्वरूप थे, इसलिए मूल्यवान थे। मालिक अपने हित में गुलामों के स्वास्थ्य और उनके कुशल-क्षेम का पूरा ध्यान रखते थे। रोम में गुलामों को दलदली इलाकों या मलेरिया-ग्रस्त क्षेत्रों में कभी नहीं भेजा जाता था। ऐसे क्षेत्रों में स्वतंत्र व्यक्ति भेजे जाते थे। काटो ने रोमन किसानों को सलाह दी थी कि वे कभी भी अपने गुलामों को दलदली या मलेरिया-ग्रस्त क्षेत्रों में न भेजें। यह अजीब-सा लगता है। परंतु जरा-सा ध्यान देने पर ही पता चल जाएगा कि यह स्वाभाविक भी था। आखिर गुलाम उनकी मूल्यवान संपत्ति होते थे। इसलिए कोई समझदार मालिक जिसे अपने हित का ज्ञान है, अपनी मूल्यवान संपत्ति को मलेरिया से क्यों तबाह होने दे। परंतु जो गुलाम नहीं थे, उनकी किसे परवाह थी क्योंकि वे किसी की संपत्ति थोड़े ही होते थे? इस कारण गुलामों को बड़ी सुविधा प्राप्त थी। उनका इतना ध्यान रखा जाता था, जितना और किसी का नहीं रखा जाता।

अस्पृश्यों को परतंत्र समाज-व्यवस्था की उक्त इन तीनों सुविधाओं में से कोई भी सुविधा प्राप्त नहीं है। उच्चतर अध्ययन के क्षेत्र में अस्पृश्य का कोई प्रवेश नहीं है, उसके लिए सभ्य जीवन के कोई रास्ते नहीं खुले हुए हैं। उसका काम सिर्फ सफाई करना है। उसे और कुछ नहीं करना है। अस्पृश्यता का अर्थ उसकी रोजी-रोटी की सुविधा नहीं है। हिंदुओं में से कोई भी अस्पृश्य को रोजी-रोटी, मकान व कपड़ा मुहैया करने के लिए जिम्मेदार नहीं है। अस्पृश्य का स्वास्थ्य किसी की जिम्मेदारी नहीं। अस्पृश्य की मौत शुभ मानी जाती है। एक हिंदू कहावत है—'अस्पृश्य मरा, गंद हटा'।

दूसरी तरफ, अस्पृश्य के लिए स्वतंत्र समाज-व्यवस्था की सभी बलाएं उसकी तकदीर में लिखी हैं। स्वतंत्र समाज-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन के लिए संघर्ष करना पड़ता है। उसकी यही जिम्मेदारी स्वतंत्र

समाज-व्यवस्था का सबसे बड़ा अभिशाप है। कोई इस उत्तरदायित्व को पूरा कर पाता है या नहीं, यह समान अवसर और समान व्यवहार मिलने पर निर्भर करता है। हालांकि अस्पृश्य एक स्वतंत्र व्यक्ति होता है, तो भी उसे समान अवसर नहीं मिलते और न उसके साथ राग-द्वेष से मुक्त व्यवहार ही होता है। इस दृष्टि से अस्पृश्यता गुलाम-प्रथा की तुलना में न केवल बदतर है, बल्कि यह निश्चय ही एक क्रूर कर्म है। गुलामी की प्रथा में गुलाम के लिए रोजी ढूंढने की जिम्मेदारी उसके मालिक की होती है। स्वतंत्र मजदूर व्यवस्था में रोजी प्राप्त करने के लिए मजदूरों को अपने साथियों का मुकाबला करना पड़ता है। इस धक्का-मुक्की में अस्पृश्य के लिए अवसर कहां? संक्षेप में, जिस प्रतियोगिता में सामाजिक कलंक के कारण अस्पृश्य का पक्ष निर्बल हो, तब जिन्हें रोजगार दिया जाएगा, उनकी सूची में उसका आखिरी नंबर होगा और जिन लोगों को निकाला जाना है, उनमें उसका प्रथम स्थान होगा। गुलाम-प्रथा की तुलना में अस्पृश्यता इसलिए क्रूर कर्म है कि इससे अस्पृश्यों पर अपने लिए रोजी कमाने का दायित्व डाल दिया जाता है, जब कि रोजी कमाने के दरवाजे उनके लिए पूरी तरह खुले नहीं होते।

सारांश यह है कि हिंदू, अस्पृश्यों को गुलामों की स्थिति से भिन्न उन स्थितियों में अपना मानते हैं, जिनसे उनके स्वार्थ की पूर्ति होती है और जब उन्हें अपने साथ रखने में उनका स्वार्थ आड़े आ जाता है और वे बोझ लगने लगते हैं, तब वे उनको अपना कहने और अपने बराबर रखने से इंकार कर देते हैं। अस्पृश्य, परतंत्र समाज-व्यवस्था के किसी लाभ के अधिकारी होने का दावा नहीं कर सकते, उन्हें स्वतंत्र समाज-व्यवस्था की सभी मुसीबतों को स्वयं ढोने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है।

□□

4

भारत की बहिष्कृत बस्तियां–
अस्पृश्यता की केंद्र–
समाज से बाहर

हिंदू समाज-व्यवस्था में अस्पृश्यों की सामाजिक स्थिति क्या है? उनकी स्थिति की सही जानकारी देना ही इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य है। लेकिन हिंदू समाज-व्यवस्था में अस्पृश्य किस प्रकार रहते हैं या उन्हें किस प्रकार रहने के लिए मजबूर किया जाता है, इसका यथार्थ और प्रत्यक्ष चित्र उनके सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए सबसे अच्छा माध्यम ढूंढ निकालना कोई आसान काम नहीं है। एक उपाय यह है कि हम हिंदू समाज-व्यवस्था का एक माडल बना लें और तब उसमें उनकी उस स्थिति को प्रदर्शित करें, जो उन्हें यहां दी गई है। इसके लिए हिंदुओं के किसी गांव जाना आवश्यक है। हमारे उद्देश्य की पूर्ति के लिए इससे अच्छा उपाय और कोई नहीं है। हिंदुओं का गांव हिंदुओं की समाज-व्यवस्था की मानो प्रयोगशाला है। गांव में हिंदू समाज-व्यवस्था का पूरा-पूरा पालन होता है। जब कभी कोई हिंदू भारतीय गांवों का जिक्र करता है, तो वह उल्लास से भर उठता है। वह उन्हें समाज-व्यवस्था का आदर्श रूप मानता है। उसकी यह पक्की धारणा है कि संसार में इसकी कोई तुलना नहीं। कहा जाता है कि सामाजिक संगठन के सिद्धांत में भारतीय गांवों का एक विशेष योगदान है, जिसके लिए भारत गर्व कर सकता है।

हिंदू अपनी इस धारणा के बारे में कि भारतीय गांव सामाजिक संगठन के आदर्श रूप हैं, कितने कट्टर होते हैं, इसका अनुमान भारतीय संविधान सभा के हिंदू सदस्यों के धुंआधार भाषणों से लगाया जा सकता है, जो उन्होंने अपने इस मत के समर्थन में दिए थे कि

भारतीय संविधान में भारतीय गांवों को स्वायत्त प्रशासनिक इकाइयों के संवैधानिक पिरामिड के आदर्श के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए, जहां उनकी अपनी-अपनी विधायिका, अपनी कार्यपालिका, अपनी न्यायपालिका होती है। अस्पृश्यों के दृष्टिकोण में इससे बढ़कर कोई दुखद बात नहीं है। भगवान का शुक्र है कि संविधान सभा ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसके बावजूद हिंदू अपनी इस बात पर हमेशा जोर देते हैं कि भारतीय गांव समाज-व्यवस्था के आदर्श रूप हैं। यह धारणा हिंदुओं की कोई पुश्तैनी धारणा नहीं है, और न इस धारणा की जड़ें उनके अतीत में छिपी हुई हैं। यह उन्होंने चार्ल्स मैटकाफ से ली है, जो ईस्ट इंडिया कंपनी में एक कर्मचारी था और राजस्व अधिकारी के पद पर काम करता था। उसने अपने राजस्व के दस्तावेजों में भारतीय गांवों का इस प्रकार वर्णन किया[1]:

"प्रत्येक गांव छोटे-छोटे गणराज्य हैं, जिनमें अपनी-अपनी आवश्यकता की लगभग हर वस्तु मौजूद है, और वे दूसरों से पूर्णतः स्वतंत्र हैं। ऐसा लगता है कि जब कुछ भी नहीं बचेगा, तब भी वे बने रहेंगे। सल्तनतें एक के बाद एक गिरती जाती हैं, एक के बाद दूसरी क्रांति होती है। हिंदू, पठान, मुगल, मराठा, सिख, अंग्रेज बारी-बारी से शासक बनते जाते हैं, लेकिन गांव वैसे के वैसे ही रहते हैं। संकट के दिनों में वे अपनी रक्षा स्वयं कर लेते हैं। जब आक्रामक् सेनाएं देश को एक कोने से दूसरे कोने तक रौंदने लगती हैं, तब गांव के लोग अपने-अपने जानवरों को अपने-अपने बाड़े के अंदर बंद कर लेते हैं और आक्रामकों को चुपचाप रास्ता दे देते हैं। अगर वे स्वयं लूटमार का निशाना बनते हैं और फौजों के आक्रमण को नहीं झेल पाते हैं, तो वे भागकर दूर के किसी गांव में चले जाते हैं। लेकिन जब फौजें निकल जाती हैं, तब वे लौट आते हैं और अपना धंधा फिर शुरू कर देते हैं। अगर किसी भू-भाग में बार-बार लूटमार और नर-संहार होता है, और गांव फिर से आबाद न हो सकें, तब लोग बिखर जाते हैं। लेकिन ज्यों ही अमन-चैन हो जाता है, त्यों ही ये लोग अपने-अपने गांव फिर वापस आ जाते हैं। एक पीढ़ी गुजर जाती

1. *बाडेन पोवेल द्वारा अपनी पुस्तक, 'लैंड सिस्टम आफ ब्रिटिश इंडिया', खंड 1 से उद्धत।*

है, लेकिन उसके बाद आने वाली पीढ़ी लौट आती है। बेटा, बाप की जगह ले लेता है और अपने बाप-दादा के गांव आ जाता है, उसी जगह घर बनाता है जहां उसके बाप-दादा का घर था, यह पीढ़ी भी वहीं पर फिर बस जाती है जहां उसके पूर्वज गांव में फिर से आबाद होने पर दुबारा इसमें आए थे। इस बार किसी छोटे-मोटे हमले से डरकर नहीं भागेगी, क्योंकि जब ये लोग मुसीबतों का मुकाबला करने के लिए अपना दल गठित कर लेंगे और लूटमार करने वालों का सफलतापूर्वक मुकाबला कर लेंगे। मैं सोचता हूं कि गांव के लोगों का इस प्रकार संगठित होना और अपने लिए एक छोटी-मोटी शासकीय इकाई बनाना सभी प्रकार की उथल-पुथल और उलट-फेर के बावजूद भारत की जनता के संरक्षण में जितना सहायक हुआ, उतना कोई और तत्व नहीं हुआ और इसी के कारण यहां की जनता खुशहाल रही, उसने आजादी का सुख भोगा।"

हिंदुओं ने भारतीय गांवों के बारे में जब अंग्रेज सरकार के एक अधिकारी का यह वर्णन पढ़ा, तब वे फूलकर कुप्पा हो गए, उन्होंने इसे अपना वास्तविक गुण समझा। भारतीय गांवों के बारे में इस दृष्टिकोण को अपना कर हिंदुओं ने अपनी बुद्धि या ज्ञान के प्रति न्याय नहीं किया, बल्कि उन्होंने अपनी कमजोरी ही प्रकट कर दी। चूंकि बहुत से विदेशी भारतीय गांवों के बारे में इसी आदर्शपरक दृष्टिकोण को सही मान लेते हैं, इसलिए समाज की असली तस्वीर पेश करना उचित होगा, जैसी कि हर किसी को भारतीय गांवों में मिलती है।

भारतीय गांव अलग से सामाजिक इकाई नहीं है। उसमें भिन्न–भिन्न जातियां होती हैं। परंतु हमारे प्रयोग के लिए यह कहना पर्याप्त है :

1. गांव में दो तरह की आबादी होती है– (क) स्पृश्य, और (ख) अस्पृश्य।

2. स्पृश्य लोगों की संख्या अधिक और अस्पृश्य लोगों की संख्या थोड़ी होती है।

3. स्पृश्य लोग गांव में रहते हैं और अस्पृश्य गांव के बाहर अलग-अलग घर बनाकर रहते हैं।

4. आर्थिक दृष्टि से स्पृश्य लोग सबल और शक्तिशाली होते हैं, जब कि अस्पृश्य लोग गरीब और पराश्रित होते हैं।

5. स्पृश्य लोग सामाजिक दृष्टि से शासकों की जाति होती है, जब कि अस्पृश्य लोग पीढ़ी दर पीढ़ी चले आ रहे बंधुआ लोगों की जाति होती है।

भारत के गांवों में रहने वाले इन स्पृश्य और अस्पृश्य लोगों के बीच आपसी व्यवहार की शर्तें क्या होती हैं? प्रत्येक गांव में स्पृश्य लोगों की एक आचार-संहिता होती है, जिसका अस्पृश्यों को पालन करना होता है। यह संहिता उन कार्यों को निश्चित करती है, जिनको करने या न करने पर अस्पृश्य लोगों का अपराध माना जाता है। इन अपराधों की सूची निम्नलिखित है :

1. अस्पृश्यों को चाहिए कि वे अपने घर हिंदुओं की बस्तियों से दूर बनाएं। अगर अस्पृश्य अपने घर दूर बनाने के इस नियम को तोड़ते हैं या उसकी अनदेखी करते हैं, तब यह उनका अपराध माना जाएगा।

2. अस्पृश्य लोगों के घर गांव के दक्षिण में होने चाहिए, क्योंकि चारों दिशाओं में दक्षिण दिशा ही सबसे अधिक अशुभ होती है। इस नियम का उल्लंघन अपराध समझा जाएगा।

3. अस्पृश्य को चाहिए कि वह इस बात का ध्यान रखे कि उसके छू जाने या उसकी छाया से भी पाप लगता है। अगर वह इस नियम को तोड़ता है, तब वह अपराध करता है।

4. अगर कोई अस्पृश्य अपने पास किसी भी प्रकार की कोई संपत्ति, जैसे भूमि या पशु रखता है, तब वह अपराध करता है।

5. अगर कोई अस्पृश्य अपने लिए खपरैल[1] की छत वाला घर बनाता है, तब वह उसका अपराध माना जाता है।
6. अगर कोई अस्पृश्य स्वच्छ कपड़े, जूते, घड़ी या सोने के जेवर पहनता है, तब वह अपराध करता है।
7. अगर कोई अस्पृश्य अपने बच्चों के अच्छे नाम रखता है, तब वह अपराध करता है। उनके नाम ऐसे होने चाहिए, जो हीनता/घृणा सूचक हों।
8. अगर कोई अस्पृश्य किसी हिंदू के सामने किसी कुर्सी पर बैठता है, तब वह अपराध करता है।
9. अगर कोई अस्पृश्य घोड़े पर चढ़कर या पालकी में बैठकर गांव से गुजरता है, तब वह अपराध करता है।
10. अगर कोई अस्पृश्य अपनी बिरादरी वालों का कोई जुलूस गांव से होकर ले जाता है, तब वह अपराध करता है।
11. अगर कोई अस्पृश्य किसी हिंदू को प्रणाम आदि नहीं करता, तब वह अपराध करता है।
12. अगर कोई अस्पृश्य सभ्य लोगों की भाषा बोलता है, तब वह अपराध करता है।
13. अगर कोई अस्पृश्य किसी शुभ दिन गांव में आकर बातचीत करता फिरता है जब हिंदू व्रत कर रहे हों या जब वे अपना व्रत पूरा कर अन्न-जल ग्रहण कर रहे हों, तब वह अपराध करता है, क्योंकि उसके मुख से निकली श्वास से केवल वातावरण दूषित होता है बल्कि हिंदुओं का आहार भी दूषित हो जाता है।
14. अगर कोई अस्पृश्य स्पृश्य व्यक्तियों के जैसे चिह्न धारण करता है और अपने को स्पृश्य जैसा प्रदर्शित करता घूमता है, तब वह अपराध करता है।

---

1. गांवों में खपरैल की छत वाले मकान समृद्धि-सूचक होते थे। अब तो पक्के मकान बनने लगे हैं–संपादक

15. अस्पृश्य को चाहिए कि वह हीन व्यक्तियों के स्तर के अनुरूप दिखे और उसे प्रत्यक्ष रूप में हीनता दर्शाने वाले ऐसे नाम आदि धारण करने चाहिएं, जिनसे लोग उसे तदनुरूप पहचान सकें। जो इस प्रकार हैं–
    (क) हीनता-सूचक नाम रखना।
    (ख) स्वच्छ वस्त्र न पहनना।
    (ग) बिना खपरैल वाले घर में रहना।
    (घ) चांदी-सोने के जेवर न पहनना।

इनमें से किसी भी नियम का उल्लंघन करना अपराध है।

इसके बाद हम उन कर्तव्यों को लेते हैं, जो इस संहिता के अनुसार अस्पृश्यों को स्पृश्यों के लिए करने अपेक्षित हैं। इस शीर्षक के अंतर्गत निम्नलिखित कार्यों को रखा जा सकता है :

1. अस्पृश्य जाति के व्यक्ति को चाहिए कि वह किसी भी हिंदू के घर की घटना, जैसे मृत्यु या विवाह की सूचना दूसरें गांवों में रहने वाले उसके सगे-संबंधियों तक पहुंचाए, चाहे वह गांव कितनी ही दूर क्यों न हो।
2. अस्पृश्यों को चाहिए कि हिंदू के घर में विवाह के अवसर पर ऐसे कार्य, जैसे लकड़ी चीरना या आने-जाने का कार्य करे।
3. अस्पृश्य को चाहिए कि जब हिंदू की लड़की अपने पिता के घर से पति के गांव जा रही हो तो बह उसके साथ जाए चाहे वह गांव कितनी ही दूर क्यों न हो।
4. जब सारा गांव बड़े-बड़े त्यौहार, जैसे होली और दशहरे का त्यौहार, की तैयारी कर रहा हो, तब अस्पृश्यों को चाहिए कि वे नौकरों द्वारा किए जाने वाले ऐसे काम करें, जो मुख्य कार्य के पहले किए जाने जरूरी होते हैं।
5. अस्पृश्यों को चाहिए कि वे कुछ त्यौहारों पर अपनी स्त्रियों को गांव के बाकी लोगों के हवाले कर दें, जिससे वे उनके साथ फूहड़ मजाक आदि कर सकें।

ये काम बिना मजदूरी लिए किए जाने होते हैं। इन कामों के महत्व को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि ये काम क्यों अस्तित्व

में आए। गांव का हर हिंदू अपने आपको अस्पृश्यों से श्रेष्ठ मानता है। वह अपने आपको सबका मालिक मानता है और इसलिए वह अपनी इज्जत को बनाए रखना बहुत जरूरी समझता है। वह अपनी इस इज्जत को तब तक कायम नहीं रख सकता, जब तक उसके इशारे पर नाचने वालों की भीड़ उसके आस-पास नहीं रहती। इसके लिए उसे अस्पृश्य ही मिलते हैं, जो उसका हर काम करने के लिए तैयार रहते हैं और जिन्हें उसके लिए कुछ भी देना नहीं पड़ता। चूंकि अस्पृश्य असहाय होते हैं, अतः वे इस कारण इन कामों को करने से इंकार नहीं कर सकते और हिंदू भी उनसे जबरदस्ती काम करवाने से नहीं चूकते, क्योंकि वे उनकी प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए जरूरी होते हैं।

अंग्रेज सरकार ने जब दंड-संहिता बनाई, तब उसमें इन अपराधों को शामिल नहीं किया गया। लेकिन जहां तक अस्पृश्यों का सवाल है, अपराध अभी भी वास्तविक हैं। इनमें से कोई भी अपराध करने पर अस्पृश्य को अवश्य सजा भुगतनी पड़ती है। ये नियम किस प्रकार लागू किए जाते हैं, यह अध्याय 5 और 6 से स्पष्ट हो जाएगा।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इन अपराधों के लिए जो सजा दी जाती है, वह सामूहिक होती है। चाहे अपराध किसी एक अस्पृश्य ने किया हो, लेकिन उसकी सजा पूरी जाति को भुगतनी होती है।

अस्पृश्य किस प्रकार रहते हैं? वे अपनी रोजी-रोटी किस प्रकार कमाते हैं, जब तक यह नहीं पता चलता है, तब तक हिंदू समाज में उनकी हैसियत का स्पष्ट पता लगना संभव नहीं।

एक कृषि-प्रधान देश में जीविका का प्रमुख साधन कृषि हो सकती है, परंतु रोजी-रोटी का यह साधन आमतौर से अस्पृश्यों के लिए उपलब्ध नहीं है। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि जमीन खरीदना उनके वश की बात नहीं, और दूसरी यह कि यदि अस्पृश्य जमीन खरीदने की स्थिति में है, तो भी वह ऐसा नहीं कर सकता। देश के अधिकांश भागों में हिंदू इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकते कि अस्पृश्य जाति का कोई व्यक्ति जमीन खरीदकर स्पृश्य जाति की बराबरी का प्रयत्न करे। किसी अस्पृश्य के ऐसे दुस्साहस का विरोध ही नहीं किया जाता, बल्कि उसको सजा भी भुगतनी पड़

सकती है। कुछ भागों में तो उनके जमीन खरीदने पर कानूनी प्रतिबंध है। उदाहरणार्थ, पंजाब प्रांत में एक कानून है जिसका नाम है, भूमि स्वामित्व अधिनियम। इस कानून में उन जातियों का उल्लेख किया गया है, जो जमीन खरीद सकती हैं और अस्पृश्यों को इस सूची में शामिल नहीं किया गया है। इसके परिणामस्वरूप अधिकांश भागों में अस्पृश्य भूमिहीन मजदूर रहने के लिए विवश हैं और मजदूर के रूप में वे वाजिब मजदूरी की मांग नहीं कर सकते। वे हिंदू किसानों के लिए उसी मजदूरी पर काम करने को मजबूर हैं, जो उन्हें मालिक देना चाहे। इस प्रश्न पर हिंदू किसान मजदूरी कम से कम रखने के लिए आपस में एकमत हो जाते हैं, क्योंकि यह उनके हित में होता है। दूसरी ओर अस्पृश्यों के पास कोई चारा नहीं रहता। वे या तो उसी मजदूरी पर काम करें अथवा भूखों मरें। न ही उनमें मोल-तौल करने की क्षमता होती है। वे या तो निश्चित की हुई दरों पर काम करें या फिर पिटाई के लिए तैयार रहें।

अस्पृश्यों को उनकी मजदूरी नकद या अनाज के रूप में दी जाती थी। उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में मजदूरी के रूप में दिए जाने वाले अनाज को 'गोबरहा' कहा जाता है। इसका अर्थ है, जानवरों के गोबर से निकलने वाला अनाज। मार्च या अप्रैल के महीने में जब फसल पूरी तरह पक जाती है तो उसे काटकर खलिहान में फैला दिया जाता है। उस पर बैलों की दांय चलती है, ताकि उनके चलने से भूसा अनाज से अलग हो जाए। दांय पर चलते हुए बैल बहुत-सा अनाज और लांक खा जाते हैं। जब वे जरूरत से ज्यादा खा लेते हैं, तो अनाज को पचाना मुश्किल होता है। अगले दिन वही अनाज गोबर के साथ निकल जाता है। गोबर को इकट्ठा कर लिया जाता है और उसमें से अनाज निकाल लिया जाता है। यही अनाज मजदूरी के रूप में अस्पृश्य मजदूरों को दे दिया जाता है, जिसे पीसकर वे रोटी बना लेते हैं।

जब फसल का समय गुजर जाता है और अस्पृश्यों के पास रोजी-रोटी का कोई साधन नहीं होता, तो वे घास काटते हैं और जंगलों से ईंधन इकट्ठा कर आस-पास के शहरों में बेच आते हैं। परंतु यह भी वन-रक्षकों के ऊपर निर्भर करता है। जब उसकी मुट्ठी

गरम की जाएगी, तभी वह उन्हें सरकारी जंगलों में घास और लकड़ी काटने देता है। जब वे शहर में आते हैं तो उनका मुकाबला खरीदारों से होता है। ये खरीददार भी हिंदू ही होते हैं, जो हमेशा मजदूरी कम रखने की कोशिश में रहते हैं। चूंकि उनमें अपने माल को रोके रखने की सामर्थ्य नहीं होती, इसलिए उन्हें अपना माल उसी कीमत पर बेचना पड़ जाता है, जो भी उन्हें बताई जाती है। कभी-कभी तो उन्हें अपने गांव से शहरों तक दस-दस मील तक बोझ लेकर जाना पड़ता है।

ऐसा कोई व्यवसाय नहीं है, जिससे वे अपनी रोजी-रोटी कमा सकें। उनके पास इसके लिए न तो पूंजी होती है, और यदि हो भी तो, कोई भी उनसे सामान नहीं खरीदता।

आमदनी के ये सभी साधन स्पष्टतः अनिश्चित और अस्थाई होते हैं। इनमें कोई गारंटी नहीं होती है। देश के कुछ भागों में जिन्हें मैं जानता हूं, अस्पृश्यों के लिए रोजी-रोटी का केवल एक ही स्थाई साधन है। यह है, गांव के हिंदू किसानों से खाना मांगने का अधिकार। हर गांव का अपना अलग शासन-तंत्र होता है। गांव की व्यवस्था के अनुसार अस्पृश्य पुश्तैनी नौकर-चाकर होते हैं। मजदूरी के अंश के रूप में सारे अस्पृश्यों को मिलाकर जमीन का एक छोटा-सा टुकड़ा मिलता है, जो उन्हें बहुत पहले दिया गया था, जो निश्चित होता है, जिसमें कभी बढ़ोतरी नहीं की गई, और जिसे अस्पृश्य भी बगैर खेती किए छोड़ देना बेहतर समझते हैं, क्योंकि उसके भी छोटे-छोटे टुकड़े हो गए होते हैं। इस कारण उन्हें भीख मांगने का अधिकार ही मिलता है।

यह बात चाहे कितनी ही खेदजनक क्यों न हो, यह अधिकार उनका परंपरागत अधिकार बन गया है और सरकार भी अस्पृश्य का वेतन तय करते समय, चाहे वह सरकारी पद पर ही क्यों न नियुक्त हो, अस्पृश्य को मिलने वाली भीख की कीमत को अपने ध्यान में रखती है।

भारत में इस समय स्पृश्यों से भीख मांगकर खाना छह करोड़ अस्पृश्यों की जीविका का मुख्य आधार है। अगर कोई किसी गांव में उस समय जाए जब लोग शाम का खाना खा चुके होते हैं, तब

वह अस्पृश्यों के झुंड के झुंड रटे-रटाए ढंग से गुहार करते हुए भीख मांगते हुए देख सकता है।

यह विधिसम्मत भिक्षा-वृत्ति अस्पृश्यों के लिए एक प्रथा बन चुकी है। गांव में स्पृश्यों के परिवार के साथ अस्पृश्यों के परिवारों का वैसा ही संबंध होता है, जैसा मध्यकालीन यूरोप में लार्ड्स आफ मैनर्स और उनके अधीन सर्फ्स और मिलेन्स के बीच होता था। स्पृश्य लोगों के परिवारों के साथ जुड़े अस्पृश्य लोगों के परिवार उनके यहां काम करते थे। ये संबंध इतने गहरे हो गए हैं कि जब कोई स्पृश्य हिंदू किसी अस्पृश्य की बात करता है तो वह उसे 'मेरा आदमी' कहता है, जैसे कि वह उसका गुंलाम हो। यह संबंध-सूत्र ही स्पृश्य परिवारों के यहां अस्पृश्य लोगों द्वारा भीख मांगकर खाना खाने की प्रथा को स्थाई प्रथा बनाने में सहायक हुआ।

यही हैं हमारे ग्रामीण गणराज्य, जिन पर हिंदुओं को इतना नाज है। इन गणराज्यों में अस्पृश्यों की क्या स्थिति है? वे दुमछल्ला तो क्या, पैर की जूती भी नहीं हैं। उनको दीन-हीन बना दिया गया है। उन्हें हर तरह से इतना दीन-हीन बना दिया गया है कि बहुसंख्यक उन पर राज कर सकें। यह विपन्नता किसी एक व्यक्ति या परिवार की नहीं, बल्कि उनके पूरे समुदाय की नियति है। अस्पृश्य हर स्पृश्य से तुच्छ है, चाहे उसकी आयु कुछ भी क्यों न हो, वह कितना भी योग्य क्यों न हो। एक स्पृश्य हिंदू युवक किसी भी वृद्ध अस्पृश्य से उच्च है। पढ़ा-लिखा अस्पृश्य भी उस स्पृश्य से हीन है, जिसके लिए काला अक्षर भैंस बराबर है।

स्पृश्य द्वारा दिया गया आदेश कानून है। अस्पृश्यों को इस बात से और कुछ लेना-देना नहीं सिवाय इसके कि वे उसका पालन करें और उसे शिरोधार्य करें।

स्पृश्यों के विरुद्ध अस्पृश्यों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं। उन्हें न कोई समान अधिकार प्राप्त है और न ही कोई न्याय, जिसके द्वारा उन्हें वह सब-कुछ दिया जा सके, जो उन्हें देय है। उन्हें उसके सिवा कुछ भी देय नहीं है, जो स्पृश्य उन्हें देने के लिए सहमत हैं। अपनी ओर से अस्पृश्यों को अपने लिए कुछ भी अधिकार नहीं मांगने चाहिए। उनको स्पृश्यों से उनकी कृपा और अनुकंपा के लिए विनती करनी

चाहिए। उन्हें जो कुछ मिले, उसी से संतोष करना चाहिए।

यह व्यवस्था हैसियत और व्यवहार, दोनों ही दृष्टियों से पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही है। एक बार स्पृश्य तो हमेशा के लिए स्पृश्य। एक बार अस्पृश्य तो हमेशा के लिए अस्पृश्य। एक बार ब्राह्मण तो हमेशा के लिए ब्राह्मण। एक बार भंगी तो हमेशा के लिए भंगी। जो लोग उच्च जाति में पैदा होते हैं, वह इस व्यवस्था में हमेशा उच्च रहते हैं, और जो निम्न जाति में पैदा होते हैं, वे हमेशा निम्न रहते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह व्यवस्था कर्म, अर्थात भाग्य के अटल सिद्धांत पर आधारित है, जो एक बार हमेशा के लिए निश्चित होता है और जिसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इस व्यवस्था में किसी व्यक्तिगत योग्यता या अयोग्यता का कोई स्थान नहीं है। कोई अस्पृश्य ज्ञान और आचार-विचार में कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, लेकिन ज्ञान और आचार-विचार में वह स्पृश्य से नीचे ही समझा जाएगा, जो ज्ञान या आचार विचार में कितना ही हीन क्यों न हो। कोई स्पृश्य चाहे कितना ही गरीब क्यों न हो, वह उस अस्पृश्य से ऊंचा है, जो चाहे कितना ही अमीर क्यों न हो।

यही है भारतीय गांवों के भीतरी जीवन की तस्वीर। इस गणतंत्र में लोकतंत्र के लिए कोई स्थान नहीं। इसमें समता के लिए कोई स्थान नहीं। इसमें स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं। इसमें भ्रातृत्व के लिए कोई स्थान नहीं। भारतीय गांव गणतंत्र का ठीक उलटा रूप है। अगर यह गणतंत्र है तो यह स्पृश्यों का गणतंत्र है, स्पृश्यों के द्वारा है और उन्हीं के लिए है। यह गणतंत्र अस्पृश्यों पर स्थापित हिंदुओं का एक विशाल साम्राज्य है। यह हिंदुओं का एक प्रकार का उपनिवेशवाद है, जो अस्पृश्यों का शोषण करने के लिए है। अस्पृश्यों के कोई अधिकार नहीं हैं। उन्हें तो सिर्फ मुंह जोहना है, सेवा करनी है और अपने को अर्पित कर देना है। उन्हें यह कार्य सिर्फ करते रहना या मर जाना है। उनके कोई अधिकार नहीं हैं, क्योंकि वे इस तथाकथित गणतंत्र के बाहर हैं। वे हिंदुओं के समाज से बहिष्कृत हैं। यह एक दुश्चक्र है। लेकिन यह एक यथार्थ है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

❑❑

5

मनुष्यों में रहने के अयोग्य

अस्पृश्य, जैसा कि पिछले अध्यायों में बताया गया है, हिंदू समाज से बाहर हैं। लेकिन अभी यह सवाल बाकी है कि उन्हें हिंदुओं से कितनी दूरी पर रखा गया है? अगर हिंदू उन्हें हिंदू के रूप में नहीं मानते, तब वे मानव मानकार उनके साथ किस प्रकार का व्यवहार करते हैं? जब तक इन सवालों का जवाब नहीं मिल जाता, तब तक हम अस्पृश्यों के जीवन के बारे में कोई सही तस्वीर नहीं बना सकते। इसका उत्तर है, बशर्ते कि कोई इसे जानना चाहे। कठिनाई केवल यह है कि उस उत्तर को किस प्रकार पेश किया जाए। इसे पेश करने के दो तरीके हैं। या तो यह कि यह उत्तर बयान के रूप में दिया जाए या यह कि कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाएं। मैं उदाहरण का तरीका अपनाऊंगा। मैं पाठकों को ढेर सारे उदाहरण देकर यह नहीं चाहूंगा कि उनका मन ऊब जाए। मैं कुछेक उदाहरण दूंगा, जिनसे स्थिति स्वतः स्पष्ट हो जाएगी। पहला उदाहरण मद्रास राज्य से है।

सन् 1909 में श्री वेंकट सुब्बा रेड्डी और उसके साथियों ने मजिस्ट्रेट द्वारा कुछ लोगों की इस शिकायत पर कि उन्होंने उनको बाधा पहुंचाई, भारतीय दंड-संहिता की धारा 339 के अधीन सजा दिए जाने के विरुद्ध मद्रास हाईकोर्ट में अपील की। इस मुकदमे में वादी और प्रतिवादी, दोनों ही हिंदू थे। मद्रास हाईकोर्ट के निर्णय[1] में इस मुकदमे का पूरा ब्यौरा तो मिलता ही है, लेकिन इससे स्पृश्यों की तुलना में अस्पृश्यों की स्थिति बड़े ही सटीक ढंग से स्पष्ट होती है।

1. *क्रिमिनल लॉ जर्नल* (11) में पृ. 263 पर उल्लिखित।

यह निर्णय उद्धृत करने योग्य है। यह इस प्रकार है :

"अपीलकर्ताओं (वेंकट सुब्बा रेड्डी तथा अन्य) को इसलिए सजा दी गई है कि उन्होंने कुछ पेरियाओं[1] को एक मंदिर के पास सार्वजनिक मार्ग में इस उद्देश्य से खड़ा किया, जिससे वादी उस मंदिर से एक जुलूस उस सड़क से होकर निकाल न सके। यह पता चला कि वादी ने इस आशंका से जुलूस नहीं निकाला कि अगर वह पेरियाओं के पास से होकर गुजरा तो वह अपवित्र हो जाएगा और यह कि अभियुक्त ने दुर्भावनापूर्वक पेरियाओं को सड़क पर खड़ा किया, जिसका एकमात्र प्रयोजन वादी को वहां जाने से रोकना था, जहां उसे जाने का अधिकार था।

हम यह नहीं समझते कि अभियुक्त ने अनुचित अवरोध करने का कोई अपराध किया, हमारे विचार से यह कार्रवाई कोई ऐसी कार्रवाई नहीं थी, जिसे धारा 339 के अंतर्गत बाधा माना जाए। पेरिया लोग कोई बाधक नहीं थे। दरअसल वादी को उनके पास से जुलूस ले जाने से रोकने की कोई बात नहीं थी और उन्हें यह अधिकार था कि वे जहां रहना चाहते थे, रहें। और यह नहीं कहा गया कि उनकी उपस्थिति का प्रयोजन शारीरिक क्षति पहुंचाने का या किसी ऐसे भय को उत्पन्न करना था कि उनकी उपस्थिति से अपवित्र होने के अतिरिक्त कुछ और भी हो सकता था।

शिकायतकर्ता जहां जाना चाहता था, उसको वहां जाने से रोकने का कारण पेरियाओं[1] की उपस्थिति नहीं थी, बल्कि उसका कारण उसकी खुद की अनिच्छा थी, जिसके कारण वह पेरियाओं के पास नहीं गया। जैसा कि श्री कुप्पुस्वामी अय्यर ने कहा है कि यह उसके द्वारा स्वयं किया गया चुनाव था, जिसके कारण वह मंदिर से बाहर नहीं गया। यह उसने अपनी सहमति से किया कि वह वहीं रहा और दंड-संहिता के अर्थ की सीमा में क्षति पहुंचने का कोई भय नहीं था, जिसके कारण उनकी सहमति मुक्त सहमति न होती। यदि स्थिति इससे भिन्न होती, तब यह समझा जाता कि किसी भी पेरिया के खिलाफ गलत खड़े होने के बारे में

1. मद्रास में पेरिया अस्पृश्य जाति होती है।

शिकायतकर्ता द्वारा की गई यह शिकायत उचित थी कि जब उससे उस स्थान से कुछ दूर हट जाने के लिए कहा गया, जहां वह अपने किसी काम से बिना किसी कानून का उल्लंघन किए विद्यमान था, तो उसने वहां से हटने से यह जानते हुए मना कर दिया कि जब तक वह वहां रहेगा, तब तक शिकायतकर्ता अपवित्र हो जाने के डर के कारण उसके पास से नहीं जाएगा।

यह स्पष्ट है कि इस मामले में कोई अनुचित बाधा नहीं पहुंचाई गई और हम समझते हैं कि अभियुक्त ने जो वहां पेरिया लोगों को खड़ा किया, उसमें कोई अंतर नहीं पड़ता।[1]

इसलिए हम सजा को रदद करते हैं और यदि कोई जुर्माना अदा कर दिया गया है, तो वह लौटा दिया जाए।"

यह एक ज्वलंत उदाहरण है। मुकदमे में दो पक्ष थे। वेंकट सुब्बा रेड्डी एक पक्ष का नेता था। दोनों पक्ष सवर्ण हिंदू थे। उनके बीच जुलूस ले जाने के अधिकार के बारे में विवाद था। वेंकट सुब्बा रेड्डी अपने विरोधियों को जुलूस निकालने से रोकना चाहता था। इसके लिए उसे कोई अच्छा तरीका मालूम नहीं था। तभी उसके दिमाग में यह तरकीब सूझी कि कारगर तरीका यही हो सकता है कि कुछ अस्पृश्यों को सड़क पर खड़ा कर दिया जाए और उनसे वहां से न हटने के लिए कहा जाए। यह चाल काम कर गई और उसके विरोधी अपवित्र हो जाने के भय के कारण अपना जुलूस नहीं निकाल सके। यह बात दूसरी है कि मद्रास हाईकोर्ट ने यह फैसला दिया कि पेरियाओं को सड़क पर खड़ा करना कानून की दृष्टि में बाधा नहीं कहलाता। लेकिन सच्चाई तो यही है कि सड़क पर पेरियाओं की उपस्थिति हिंदुओं को दूर रखने के लिए काफी है। इसका अर्थ यह हुआ कि हिंदुओं के मन में अस्पृश्यों के प्रति अटूट घृणा भरी हुई है।

दूसरा उदाहरण भी उतना ही ज्वलंत है। यह काठियावाड़ में स्कूल के एक अस्पृश्य मास्टर से संबंधित है। यह श्री गांधी द्वारा प्रकाशित *'यंग इंडिया'* नामक पत्र के 12 दिसंबर 1929 के अंक में पत्र के रूप में छपा था। इस पत्र में उसने यह बताया है कि उसे अपनी

1. जिस मजिस्ट्रेट ने इस मामले की सुनवाई की उसने पेरियाओं की उपस्थिति को बाधा के रूप में पाया और इसलिए उसने अभियुक्त को दोषी करार दिया।

पत्नी का एक हिंदू डाक्टर से इलाज कराने में कौन-कौन सी कठिनाइयां आईं और किस प्रकार उसकी पत्नी और उसका बच्चा, दोनों ही इलाज न किए जाने पर मर गए। पत्र में बताया गया है:

"मेरी पत्नी ने इस महीने की पांच तारीख को एक बच्चे को जन्म दिया। सात तारीख को वह बीमार पड़ गई और उसे दस्त लग गए। वह कमजोर होती गई। उसके सीने पर सूजन आ गई। उसे सांस लेने में तकलीफ होने लगी और उसकी पसलियों में बहुत दर्द होने लगा। मैं डाक्टर को बुलाने गया, लेकिन उसने कहा कि वह हरिजन के घर नहीं जाएगा। वह बच्चे की जांच करने के लिए भी तैयार नहीं हुआ। तब मैं नगर सेठ के पास गया और गरसिया दरबार में गया, और उनसे गुजारिश की कि वे इस मामले में मेरी मदद करें। नगर सेठ ने बतौर डाक्टर की फीस दो रुपये की जमानत दी। डाक्टर इस शर्त पर आया कि वह उन्हें हरिजन की बस्ती के बाहर देखेगा। मैं अपनी पत्नी और उसके हाल के हुए बच्चे को बस्ती के बाहर ले गया। तब डाक्टर ने अपना थर्मामीटर एक मुसलमान को दिया, उसने मुझे दिया और मैंने उसे अपनी पत्नी को लगाया, और बाद में इसी प्रक्रिया के द्वारा थर्मामीटर डाक्टर को लौटा दिया गया। तब कोई रात के आठ बजे होंगे। डाक्टर ने लालटेन की रोशनी में थर्मामीटर देखा और कहा कि मरीज को निमोनिया हो गया है। इसके बाद डाक्टर चला गया और उसने दवाई भेज दी। मैं बाजार से अलसी का तेल खरीद लाया और उसे अपनी पत्नी के सीने पर मला । इसके बाद डाक्टर दुबारा आने के लिए तैयार न हुआ, हालांकि मैंने उसे उसकी फीस के दो रुपये दे दिए थे। यह बीमारी खतरनाक है। भगवान ही हमारा भला करेगा।

मेरे जीवन की ज्योति बुझ गई। आज दोपहर दो बजे मेरी पत्नी का देहांत हो गया।"

इस पत्र में स्कूल के अस्पृश्य मास्टर का नाम नहीं दिया गया। इसी प्रकार डाक्टर का नाम भी नहीं बताया गया है। ऐसा स्कूल के अस्पृश्य मास्टर के अनुरोध पर किया गया, क्योंकि उसे बाद में अपने

सताए जाने की आशंका थी। इसमें जो बातें बताई गई हैं, वह सच हैं।

इसकी व्याख्या करने की कोई जरूरत नहीं है। काफी पढ़े-लिखे होने पर भी एक डाक्टर ने ऐसी महिला के थर्मामीटर लगाना और उसका इलाज करना अस्वीकार कर दिया, जिसकी हालत काफी नाजुक थी। चूंकि उसने उसका इलाज करने से मना कर दिया, इसलिए वह महिला मर गई। उस डाक्टर को इस बात का तनिक भी ख्याल नहीं हुआ कि वह उस आचरण-संहिता का उल्लंघन कर रहा है, जो उसके व्यवसाय के लिए अनिवार्य होती है। हिंदू एक अस्पृश्य को छूने के बजाय अमानवीय होना अधिक पसंद करता है।

तीसरा उदाहरण 23 अगस्त 1932 के *'प्रकाश'* से लिया गया है:

> तहसील जफरवाल के गांव जगवाल में 6 अगस्त को एक बछड़ा कुएं में गिर पड़ा। उस समय राम महाशय नाम का एक डोम[1] पास में ही खड़ा हुआ था। वह तुरंत कुएं में कूद पड़ा और उसने बछड़े को अपनी गोद में उठा लिया। तीन-चार आदमी उसकी सहायता के लिए आ गए और बछड़े को बचा लिया गया। लेकिन गांव के हिंदुओं ने आसमान सिर पर उठा लिया कि इस आदमी ने हमारा कुआं ही गंदा कर दिया और बेचारे को डांटने-फटकारने लगे। सौभाग्य से वहां एक बैरिस्टर आ गया। उसने उन लोगों को खूब डांटा-फटकारा, जो साधूराम से झगड़ रहे थे और उन्हें शांत किया। इस प्रकार एक आदमी की जान बच गई, वरना पता नहीं क्या होता।"

यहां क्या महत्वपूर्ण है–एक अस्पृश्य द्वारा बछड़े की रक्षा करना और उसके कारण कुएं का गंदा हो जाना, हिन्दुओं के विचार से बेहतर होता यदि उस बछड़े को मरने दिया जाता और कुएं को गंदा होने से बचाना।

एक ऐसा ही मामला 19 दिसंबर 1936 के *'बंबई समाचार'* में छपा है :

---

1. संयुक्त प्रांत और बिहार में डोम अस्पृश्य जाति होती है।

"कालीकट के एक गांव कलाडी में एक युवती का बच्चा कुएं में गिर पड़ा। वह जोर-जोर से रोने-चिल्लाने लगी, लेकिन किसी की हिम्मत कुएं में कूदने की न हुई। वहां से एक अजनबी गुजर रहा था। वह बच्चे की रक्षा के लिए तुरंत कुएं में कूद पड़ा। जब उससे लोगों ने उसके बारे में पूछा कि वह कौन है, तो उसने जवाब दिया कि वह अस्पृश्य है। वहां लोगों ने उसके प्रति आभार प्रकट करने के बजाय उस पर गालियों की बौछार करनी शुरू कर दी और उसे मारा-पीटा कि उसने कुआं गंदा कर दिया।"

हिंदुओं के लिए अस्पृश्य कितना गंदा और साथ में रहने के अयोग्य समझा जाता है। यह जुलाई 1937 के लखनऊ से प्रकाशित *'आदि हिंदू'* नामक पत्र में प्रकाशित इस घटना से प्रकट होता है :

"मद्रास होल्म्स कंपनी का एक कर्मचारी हाल ही में मर गया, जो अपने आपको ऊंची जाति का कहता था। जब उसकी चिता को अग्नि दी गई, तो उसके परिवार वालों और वहां खड़े लोगों ने उसकी चिता पर चावल फेंके। दुर्भाग्य से उसके दोस्तों में से एक अस्पृश्य भी था, जो मद्रास का आदि-द्रविड़ था। उसने भी दूसरे लोगों की तरह चिता पर चावल फेंके। इस पर सवर्ण हिंदुओं ने उसे भला-बुरा कहा कि उसने चिता को अपवित्र कर दिया। इस बात पर काफी गरमा-गरमी हुई और बात यहां तक पहुंच गई कि दो आदमियों के पेट में चाकू घोंप दिया गया। एक आदमी तो अस्पताल जाते-जाते मर गया और दूसरे की हालत नाजुक बताई जाती है।"

एक घटना है, जो इससे भी बढ़कर है। बंबई में 6 मार्च, 1938 को दादर के पास कासरवाड़ी (वूलेन मिल्स के पीछे) में इन्दूलाल याज्ञनिक की अध्यक्षता में भंगियों की एक सभा हुई। इस सभा में एक भंगी युवक ने आपबीती इस प्रकार सुनाई :

"मैंने 1933 में वर्नाक्यूलर परीक्षा पास की। मैंने चौथी कक्षा तक अंग्रेजी पढ़ी थी। मैंने बंबई नगर पालिका की स्कूल कमेटी को एक अध्यापक के रूप में नियुक्ति के लिए आवेदन-पत्र दिया। परंतु वहां कोई जगह खाली नहीं थी, इसलिए मुझे सफलता नहीं

मिली। फिर मैंने अहमदाबाद के पिछड़ी जाति अधिकारी को आवेदन-पत्र दिया कि मुझे पटवारी की नौकरी दी जाए, और मैं सफल हो गया। 19 फरवरी 1936 को मुझे खेड़ा जिले के वरसाड तालुका में मामलातदार के यहां पटवारी नियुक्त किया गया।

हालांकि हमारा परिवार गुजरात का है, लेकिन मैं इससे पहले कभी गुजरात नहीं गया था। गुजरात जाने का मेरा यह पहला मौका था। मुझे यह नहीं मालूम था कि सरकारी दफ्तरों में भी छुआछूत होती है। इसके अलावा, मैंने अपने आवेदन-पत्र में भी यह लिख दिया था कि मैं एक हरिजन हूं, इसलिए मुझे उम्मीद थी कि मेरे वहां पहुंचने से पहले ही लोगों को यह पता चल जाएगा कि मैं कौन हूं। जब मैं मामलातदार के दफ्तर में पहुंचा और पटवारी का कार्यभार संभालने के लिए उपस्थित हुआ, तो वहां के क्लर्क का रवैया देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ।

कारकून ने मुंह बिचका कर पूछा, 'तुम कौन हो?' मैंने उत्तर दिया, 'श्रीमान, मैं एक हरिजन हूं।' उसने कहा, 'दूर हटो। वहां दूर खड़े होकर बात करो। मेरे पास आकर खड़े होने की तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई। गनीमत है कि यह दफ्तर है। दफ्तर के बाहर होता तो मैं तुझे छह ठोकर मारता। यहां नौकरी पर आने की हिम्मत कैसे हुई।' इसके बाद उसने मुझसे कहा कि मैं अपने प्रमाण-पत्र और पटवारी के लिए नियुक्ति-पत्र जमीन पर डाल दूं। उसने उन्हें वहां से उठाया। जब मैं वरसाड में मामलातदार के दफ्तर में काम करता था, तो मुझे पानी पीने के लिए बहुत कष्ट उठाना पड़ता था। दफ्तर के बरांडे में पानी के घड़े रखे होते थे। पानी पिलाने वाला एक नौकर भी था। उसका काम दफ्तर के क्लर्कों को जब वे आते, पानी पिलाना था। जब पानी पिलाने वाला नहीं होता था तो वे उन घड़ों से खुद पानी ले लेते थे। मेरे लिए ऐसा करना असंभव था। मैं घड़ों को छू भी नहीं सकता था, क्योंकि मेरे छू लेने से पानी गंदा हो जाता। इसलिए मेरा पानी पीना दूसरों की कृपा पर निर्भर करता था। मेरे लिए वहां एक जंग खाया कनस्तर रख दिया गया था। कोई उसे छूता ही नहीं था और उसे मेरे सिवाय कोई साफ भी नहीं करता था। मेरे

लिए इसी कनस्तरं में पानी डाल दिया जाता था। लेकिन वह पानी भी मैं तभी पी सकता था, जब पानी पिलाने वाला वहां मौजूद हो। उस आदमी की इच्छा मुझे पानी देने की न होती थी। जब वह यह देखता कि मैं पानी पीने के लिए आ रहा हूं, तो वह जान-बूझकर इधर-उधर हो जाया करता था। नतीजा यह होता था कि मैं प्यासा ही रह जाता था। अक्सर मुझे प्यासा रहना पड़ता था।

मकान के मामले में भी मेरे सामने ऐसी ही मुश्किलें आईं। मैं वरसाड में अजनबी था। कोई सवर्ण हिंदू मुझे रहने के लिए किराए पर मकान क्यों देता? वहां के अस्पृश्य भी मुझे इसलिए मकान देने के लिए तैयार न हुए कि वहां के हिंदू लोग कहीं उनसे नाराज न हो जाएं। हिंदू नहीं चाहते थे कि मैं वहां एक क्लर्क के रूप में कार्य करूं, जो मेरे लिए ऊंची नौकरी थी। इससे भी ज्यादा मुश्किलें खाना खाने के बारे में सामने आईं। मैं कहीं से भोजन प्राप्त नहीं कर सकता था। मैं सुबह-शाम भाजा खरीदकर खाता था, और वह भी मैं गांव के बाहर अकेले में खाता। लौटकर फिर मामलातदार के दफ्तर की सीढ़ियों पर सो जाता था। मैंने चार दिन ऐसे ही बिताए। जब मुझसे बर्दाश्त न हुआ, तब मैं जन्तराल में रहने के लिए चला गया, जो मेरा पुश्तैनी गांव था। यह वरसाड से करीब छह मील दूर है। मुझे रोजाना ग्यारह मील आना-जाना पड़ता था। मैंने डेढ़ महीने इसी प्रकार गुजारे।

इसके बाद मामलातदार ने मुझे पटवारीगिरी सीखने के लिए एक पटवारी के पास भेज दिया। उस पटवारी के अधीन तीन गांव, जन्तराल, खापुर और सैजपुर थे। वह जन्तराल में रहता था। मैं जन्तराल में उस पटवारी के साथ दो महीने रहा। उसने मुझे इस बीच में कुछ नहीं सिखाया। मैं उसके दफ्तर के अंदर एक बार भी नहीं जा सका। गांव का मुखिया खासतौर से मुझसे चिढ़ता था। एक बार उसने मुझसे कहा, 'तुम लोग, तुम्हारा बाप, तुम्हारा भाई पटवारी के दफ्तर में झाड़ू लगाते थे और तुम दफ्तर में हमारे बराबर बैठना चाहते हो? होश में आओ, और यह नौकरी छोड़ दो?"

एक दिन पटवारी ने मुझे सैजपुर बुलाया और गांव की जनसंख्या की तालिका बनाने को कहा। मैं जन्तराल से सैजपुर गया। मैंने देखा कि मुखिया और पटवारी कोई काम कर रहे थे। मैं गया, दफ्तर के दरवाजे के पास खड़ा रहा। मैंने उनको नमस्ते की, पर किसी ने मेरी तरफ देखा तक नहीं। मैं पंद्रह मिनट तक बाहर खड़ा रहा। मैं अपनी जिंदगी से तंग हो चुका था। इस प्रकार उपेक्षित और अपमानित होने पर मुझे भी गुस्सा आ गया। वहां एक कुर्सी पड़ी थी। मैं उस पर बैठ गया। मुझे कुर्सी पर बैठा देखकर मुखिया और पटवारी मुझसे कुछ कहे बिना चुपचाप वहां से चले गए। कुछ ही देर में वहां लोग आने शुरू हो गए और देखते ही देखते मेरे चारों ओर भीड़ जमा हो गई। इस भीड़ का मुखिया गांव की लायब्रेरी का कर्मचारी था। मेरी समझ में नहीं आया कि क्यों कर एक पढ़ा-लिखा आदमी इस भीड़ का अगुआ बना हुआ है। फिर मुझे पता चला कि यह कुर्सी उसी की थी। उसने मुझे गंदी-गंदी गालियां बकनी शुरू कर दीं। फिर उसने रावनिया (गांव के चौकीदार) से कहा कि इस भंगी के कुत्ते को इस कुर्सी पर किसने बैठने दिया। चौकीदार ने मुझे उठा दिया और मुझसे कुर्सी छीन ली। मैं जमीन पर बैठ गया। तब भीड़ दफ्तर के भीतर घुस आई और मुझे घेर लिया। लोग गुस्से से लाल हो रहे थे। कुछ मुझे गालियां दे रहे थे और कुछ ने धमकी दी कि धारिया (तेजधार का तलवार जैसा हथियार) से मेरी बोटी-बोटी काट दी जाएगी। मैंने उनसे माफी मांगी और दया करने को कहा। भीड़ पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं कैसे जान बचाऊं। मेरे दिमाग में आया कि इस बारे में मैं मामलातदार को बताऊं कि किस तरह यह मुसीबत मेरे गले आ पड़ी है, और अगर इस भीड़ द्वारा मेरी हत्या कर दी जाए, तो मेरे शव का क्या किया जाए। मैने सोचा कि अगर भीड़ को किसी तरह यह पता चल जाए कि मैं सचमुच मामलातदार से शिकायत कर रहा हूं, तो शायद लोग मुझे छोड़ दें। मैंने चौकीदार से कागज लाने को कहा, जो उसने ला दिया। इसके बाद मैंने बड़े-बड़े अक्षरों में यह चिट्ठी लिखी, जिसे हर कोई पढ़ सकता था।

'सेवा में,

मामलातदार,

वरसाड तालुका।

महोदय,

कृपया कालीदास शिवराम परमार का विनम्र अभिवादन स्वीकार करें। मैं आपको विनम्रता के साथ सूचित करता हूं कि आज मौत साक्षात मेरे सामने आकर खड़ी हो गई है। यदि मैंने माता-पिता का कहना माना होता, तो आज यह नौबत नहीं आती। कृपया मेरे माता-पिता को मेरी मौत का समाचार दे दें।'

जो कुछ मैंने लिखा था, उसे लायब्रेरियन ने पढ़ लिया। उन्होंने मुझे चिट्ठी को फाड़ डालने के लिए कहा। मैंने वह चिट्ठी फाड़ दी। उन्होंने जी-भर कर मुझे गालियां सुनाईं और कहा, 'तुम चाहते हो कि हम तुम्हें पटवारीजी कहें, तुम एक भंगी हो, और दफ्तर में घुसकर कुर्सी पर बैठना चाहते हो।' मैंने दया की याचना की और वायदा किया कि ऐसा फिर कभी नहीं होगा। मैंने नौकरी छोड़ देने का भी वायदा किया। जब शाम को सात बजे भीड़ वहां से चली गई, तब तक मैं वहां रहा। तब तक पटवारी और मुखिया नहीं आए थे। उसके बाद मैंने पंद्रह दिन की छुट्टी ली और लौटकर अपने माता-पिता के पास बंबई आ गया।"

अस्पृश्यों के प्रति हिंदुओं के सामाजिक दृष्टिकोण का एक और उदाहरण है, जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती । यह दृष्टिकोण निम्नलिखित उदाहरणों से और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। आठ सितंबर 1943 के *'अलफजल'* से :

"नासिक से पहली सितंबर को यह खबर मिली कि गांव के हिंदुओं ने एक अछूत परिवार पर धावा बोल दिया है। एक बुढ़िया के हाथ-पांव बांध दिए, उसे लकड़ियों के ढेर पर डाल दिया और उसमें आग लगा दी। यह सब-कुछ इसलिए हुआ कि वे सोचते थे कि गांव में हैजा इसी की वजह से फैला है।"

उनतीस अगस्त 1946 के *'टाइम्स आफ इंडिया'* से :

"खेड़ा जिले के एक गांव में सवर्ण हिंदुओं ने हरिजनों के मकानों पर हमला कर दिया। उनको संदेह *था कि ये लोग* जादू-टोना करते हैं, जिससे जानवर मर जाते हैं।

कहा जाता है कि दो सौ ग्रामीण लाठियां लेकर हरिजनों के मकानों में घुस आए, एक बुढ़िया को पेड़ से बांध दिया और उसके पैर जला दिए। उन्होंने एक और औरत की जबरदस्त पिटाई की।

हरिजन डरकर गांव से भाग गए। जिला हरिजन सेवक संघ के मंत्री छोटा भाई पटेल को जब इस घटना का पता चला, तो वह हरिजनों को गांव वापस ले आए हैं और उन्होंने हरिजनों की सुरक्षा के लिए अधिकारियों को एक पत्र भेजा है।"

एक और गांव से भी ऐसी ही घटना का समाचार मिला है। कहा जाता है कि यहां भी हरिजनों की जबरदस्त पिटाई की गई है।

बात यहीं खत्म नहीं हो जाती। हिंसा की ऐसी ही एक और घटना हुई, जिसमें कहा गया है कि हिंदुओं ने मिलकर अस्पृश्यों पर हमला किया। यह खबर 22 सितंबर 1946 के *'भारत ज्योति'* नामक समाचार-पत्र में छपी। इसका विवरण इस प्रकार है :

"वरसाड तालुका के हरिजन सेवक संघ के मंत्री को एक रिपोर्ट प्राप्त हुई है, जिसमें कहा गया है कि खेड़ा जिले के वरसाड तालुका के एक गांव में ग्रामीणों की भीड़ द्वारा किए गए हमले के कारण पांच हरिजन गंभीर रूप से घायल हो गए। उनमें एक महिला भी थी। उन पर यह हमला धारियों और लाठियों से किया गया। यह हमला लगभग सात बैलों के मर जाने के कारण किया गया। गांव वालों को यह संदेह था कि हरिजन टोना-टोटका किया करते हैं।

घायलों को अस्पताल भेज दिया गया है। पुलिस मौके पर पहुंच गई है और कुछ लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया है। कहा जाता है कि गांव वाले हरिजनों को धमका रहे हैं कि यदि वे इस बारे में अधिकारियों से किसी तरह की शिकायत करेंगे, तो

उन्हें जिंदा जला दिया जाएगा।

खेड़ा के गांवों में ऐसी घटनाएं प्रायः होती रहती हैं और जिलाधीश ने सभी पुलिस अधिकारियों और अन्य अधिकारियों को हिदायतें दी हैं कि हरिजनों का उत्पीड़न करने वालों को कड़ी सजा दी जाए।"

इन उदाहरणों से जो बात सामने आती है, वह साफ और सीधी है। कुछ और कहने की जरूरत नहीं। अस्पृश्य के पास आना भी आम हिंदू के लिए गवारा नहीं । उससे छूत लग जाती है। वह इंसान नही है। उसे दूर रखना चाहिए।

□□

सभी मनुष्य एक ही मिट्टी के बने हुए हैं और उन्हें यह अधिकार भी है कि वे अपने साथ अच्छे व्यवहार की मांग करें।

– डा. भीमराव अम्बेडकर

भाग II
दलित-उत्पीड़न

6

अस्पृश्यता और अराजकता

बहुत से लोगों को इस बात पर आश्चर्य होता है कि जिस व्यवस्था में इतनी ढेर सारी असमानताएं हों, वह अब तक जीवित कैसे रही है। कौन से ऐसे तत्व हैं, जो इसे पुष्ट करते हैं? जो तत्व इस व्यवस्था को पुष्ट करते आए हैं, उनमें सबसे महत्वपूर्ण तत्व है हिंदुओं का इसे हर कीमत पर बनाए रखने का संकल्प। जब कभी अस्पृश्य इसमें थोड़ा-सा भी बदलाव लाने की कोशिश करते हैं, तभी हिंदू उसे दबा देने के लिए हर स्तर के हथकंडे इस्तेमाल करने के लिए तैयार रहते हैं। मामूली से भी मामूली अहिंसक हिंदू अस्पृश्यों के प्रति घोर से घोर हिंसा करने में तनिक भी नहीं सकुचाएगा। कोई भी ऐसा क्रूर कर्म नहीं, जो वह इस व्यवस्था को बनाए रखने के लिए उनके खिलाफ नहीं करेगा। बहुत से लोगों को सहज रूप से इसका विश्वास नहीं होगा। किंतु यह सच है। यहां मैं अस्पृश्यों पर हिंदुओं द्वारा किए गए अत्याचार और दमन की कुछ घटनाएं जो समय-समय पर समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुई हैं, उन लोगों के लिए उद्धृत कर रहा हूं, जिन्हें इस बारे में थोड़ा-सा भी संदेह है:

I

दिल्ली के *'तेज'* समाचार-पत्र के 4 सितंबर 1927 के अंक में निम्नलिखित समाचार छपा है:

"हरिजनों ने व्यकोम के शिव मंदिर को उसके एकदम पास जाकर अपवित्र कर दिया। इस पर उस क्षेत्र के हिंदुओं ने प्रचुर धन लगाकर मंदिर को शुद्ध करने का फैसला किया है, जिससे यहां फिर से पूजा आरंभ हो सके।"

'प्रताप' के संवाददाता ने ऐसा ही एक समाचार दिया, जो उसके दो

सितंबर 1932 के अंक में प्रकाशित हुआ :

"मेरठ, अगस्त 1932, जन्माष्टमी के दिन कुछ हरिजनों ने सवर्ण हिंदुओं के मंदिर में प्रवेश करने की चेष्टा की थी। जगह-जगह दंगे और अशांति के अलावा इसका कोई नतीजा नहीं निकला था। इस साल स्थानीय दलित संघ ने यह फैसला कर रखा था कि यदि मंदिर के द्वार उनके लिए नहीं खोले गए तो वे सत्याग्रह करेंगे। जब हिंदुओं को इस बात का पता चला तो उन्होंने हरिजनों की इस चाल को विफल करने के लिए योजनाएं बनानी शुरू कर दीं। अंत में जन्माष्टमी की रात को हरिजनों ने जुलूस निकाला और मंदिर में घुसने की कोशिश की। लेकिन पुजारियों ने उन्हें प्रवेश करने से रोक दिया और कहा, 'आप लोग यदि भगवान के दर्शन करना चाहते हैं, तो सड़क पर से करें।' इस पर मंदिर के सामने भारी भीड़ जमा हो गई। पुजारियों ने मंदिर में घुसने की कोशिश की और दोनों पक्षों के बीच झगड़ा शुरू हो गया और जमकर मार-पीट हुई।"

हिंदू अपने मंदिरों में अस्पृश्यों को अंदर नहीं आने देते। यह सोचा गया होगा कि वे अस्पृश्यों को अपने मंदिर बनाने और उनमें भगवान की मूर्ति रखने देंगे। यह सोचना गलत है। हिंदू इसकी भी अनुमति नहीं देते। इस संबंध में दो घटनाओं के उदाहरण देना पर्याप्त होगा। उनमें से एक घटना 12 फरवरी 1923 के *'प्रताप'* में छपी है:

"आगरा के एक चमार ने किसी ब्राह्मण को उसके घर में विष्णु की मूर्ति की पूजा करते हुए देख अपने घर में भी ऐसा ही किया। जब ब्राह्मण को इसका पता चला तो वह गुस्से से लाल-पीला हो उठा। उसने बहुत से गांव वालों की सहायता से अभागे हरिजन को पकड़, उसकी जमकर पिटाई की और कहा, 'तुझे भगवान विष्णु की पूजा करने की हिम्मत कैसे हुई?' इसके बाद उन्होंने उसके मुंह में कीचड़ भरकर छोड़ दिया। चमार ने हताश होकर हिंदू धर्म त्याग दिया और इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।"

दूसरी घटना 4 जुलाई 1939 के *'हिंदू'* में छपी है:

"बेलारी जिला हरिजन सलाहकार बोर्ड की बैठक 29 जून 1939 को

क्रमेटी के प्रधान तथा जिलाधीश के बंगले पर हुई। श्री ए.डी. क्रौम्बी, सी.आई.ई., आई.सी.एस., जिलाधीश ने इसकी अध्यक्षता की।

नारायण देवरकरी के हरिजनों की शिकायतों के संबंध में, जिनमें एक शिकायत यह भी थी कि महाजन लोग उनसे जबरदस्ती बेगार कराते और उन्हें सताते हैं, समिति ने यह निर्णय किया कि इस बारे में सरकारी रिपोर्ट मांगी जाए, ताकि आवश्यक होने पर कोई कार्रवाई की जा सके।

कुडाथिनी गांव के हरिजनों की धार्मिक कठिनाइयों के बारे में समिति को ब्यौरा दिया गया। इसमें यह आरोप था कि हरिजनों ने हालांकि अपनी कालोनी में बारह साल पहले मंदिर बनाया था, पर वे उसमें कुछ सवर्ण हिंदुओं की इस आपत्ति के कारण भगवान की मूर्ति स्थापित नहीं कर सके हैं, हालांकि जो मंदिर में ही बनी हुई रखी है, कि वे मूर्ति स्थापित करने के पहले उसे गांव में जुलूस के रूप में नहीं ले जा सकते।"

II

हिंदुओं के कुएं से पानी लेने पर हिंदू कैसा व्यवहार करते हैं, यह निम्नलिखित घटनाओं से स्पष्ट हो जाएगा।

पहली घटना *'प्रताप'* के 12 फरवरी 1923 के अंक में छपी है:

"महाशय छेदी लालजी ने खबर दी है कि एक चमार मूर्ति की पूजा करने के लिए जा रहा था। रास्ते में उसे प्यास लगी। उसने अपनी लोहे की छोटी डोलची कुएं में डालकर पानी लिया। इस पर एक सवर्ण हिंदू ने उसे डांटा, खूब मारा-पीटा और एक कोठरी में बंद कर दिया। जब यह घटना हो चुकी, तब मैं उधर से निकला। मैंने पूछा कि इस आदमी को कोठरी में बंद क्यों कर रखा है, तो दीवान साहब ने बताया कि इस आदमी ने अपनी डोलची हमारे कुएं में डाल दी और यह हमारा धर्म भ्रष्ट करना चाहता है।"

यह एक सच्चाई है कि हरिजनों पर अत्याचार करने में हिंदू औरतें भी पीछे नहीं रहतीं, और जो अस्पृश्य हिंदुओं के कुएं से पानी लेने का दुस्साहस करता है, उसे मारने-पीटने में वे मर्दों का साथ देती हैं। इस खबर की तुलना कीजिए जो 26 फरवरी 1932 के *'प्रताप'* में छपी है:

"19 फरवरी 1932 को पुल बजुवां में एक दुखद घटना घटी। यह घटना तब घटी, जब महाशय रामलाल एक कुएं से पानी लेने गए। यह वही कुआं था, जिस पर 13 जनवरी 1932 को कुछ राजपूतों ने महाशय रामलाल और उनके एक साथी पंडित बंशीलाल की ठुकाई की थी। उस वक्त राजपूत औरतों का एक झुंड लाठी-डंडे लेकर वहां आ पहुंचा और महाशय की ऐसी पिटाई की, जिसका बयान नहीं किया जा सकता। राजपूत औरतों ने उन्हें इतना पीटा कि उनका शरीर लहूलुहान हो गया। इस समय वह फुकलियां के अस्पताल में भर्ती हैं।"

कुएं से पानी भरने के अस्पृश्यों के अधिकार के अनुसार यदि इन कुओं से अस्पृश्य पानी भरना चाहें, तो इस बारे में सरकारी अफसर की मदद भी उन्हें पिटने से नहीं बचा सकती। यह निम्नलिखित घटना से स्पष्ट है, जिसकी खबर *'मिलाप'* के 7 जून 1924 के अंक में इस प्रकार छपी है :

"कुछ दिन पहले सभा तहसील के रहियां गांव में नहर विभाग का एक अधिकारी आया और उसने कुएं से पानी निकालने में कुछ मेघ अस्पृश्यों की मदद लेनी चाही। पहले तो उन्होंने पानी भरने से इंकार कर दिया, लेकिन अधिकारी ने उन्हें खूब डांटा-फटकारा और उनसे जबरदस्ती पानी निकलवाया। अगले दिन हिंदू कुएं पर इकट्ठा हो गए और उन्होंने चौकीदार को भेजकर वहां मेघों को बुलवाया और उनसे कहा कि वे कुएं पर कैसे चढ़े? एक मेघ ने कहा कि हम अपनी मर्जी से कुएं पर नहीं चढ़े और हमारी कोई गलती नहीं थी। इस बात पर हिंदुओं ने उसकी लाठी-डंडों से पिटाई की। यह समाचार लिखे जाने तक वह बेहोश पड़ा है। हालांकि डाक्टर ने कहा है कि चोटें मामूली हैं, तो भी जान से मारने की कोशिश और गैर-कानूनी जमावड़े का मामला पुलिस में दर्ज कर लिया गया है। लेकिन पुलिस ने इसकी अनदेखी कर दी है। इससे मेघ लोगों में असुरक्षा की भावना फैली हुई है। गांव वाले मेघों को डरा-धमका रहे हैं, यहां तक कि उनके मवेशी भी पानी नहीं पी सकते। सभी तालाब और कुएं मेघ लोगों के लिए निषिद्ध हैं।"

बात यहीं खत्म नहीं होती कि अस्पृश्य लोग हिंदुओं के कुओं से पानी नहीं भर सकते। वे अपने लिए कुआं नहीं बना सकते, चाहे उनके पास इसके लिए पैसा ही क्यों न हो। पक्का कुआं बनाने का मतलब है कि वे

अपने को ऊंचा उठाकर हिंदुओं की बराबरी करना चाहते हैं, जो स्थापित व्यवस्था के प्रतिकूल है।

छह जून 1934 के *'मिलाप'* में निम्नलिखित घटना छपी :

"पंजाब की अछूत उद्धारक समिति के मंत्री लाला रामप्रसाद जी ने निम्नलिखित सूचना दी है–

"इन गर्मियों में जगह-जगह से लोगों को पीने के लिए पानी की किल्लत की शिकायतें आ रही हैं। दलित जातियों के लोग, जिनके अपने कुएं नहीं हैं, अपने-अपने घड़े लेकर कुओं के पास बैठ जाते हैं। अगर कोई व्यक्ति दयालु हुआ तो वह उनके घड़े में पानी डाल देता है, वरना उन्हें पूछने वाला कोई नहीं। कुछ इलाकों में किसी भी आदमी को इनके लिए पैसा देने पर भी पानी नहीं दिया जाता और अगर कोई कोशिश करता भी है, तो मारपीट की नौबत आ जाती है। उनके लिए गांव के कुओं से पानी लेना तो मना है ही, वे अपने खर्च से कुएं भी नहीं खुदवा सकते।"

इसी तरह की एक घटना 21 अप्रैल 1924 के *'तेज'* में छपी थी :

"लगभग डेढ़ महीना पहले ओपड गांव के करीब ढाई सौ चमारों ने मुसलमान सक्कों की मशक से (आर्य समाज के पंडितों के कहने पर) पानी लेना बंद कर दिया। अब वे बड़ी मुसीबत में हैं। गांव के जाटों ने न केवल उन्हें अपने कुओं से पानी लेने को मना कर दिया है, बल्कि वे उन्हें अपने कुएं भी नहीं खोदने दे रहे हैं। बेचारे चमार गड्ढे और तालाबों से पानी लेकर अपना गुजारा कर रहे हैं। कल दलित सुधार समिति के मंत्री डाक्टर सुखदेवजी जांच करने के लिए ओपड आए और उन्होंने सब-कुछ अपनी आंखों से देखा। उन्होंने देखा कि चमारों की दुर्दशा वर्णनातीत है और जाटों द्वारा उन पर सचमुच ज्यादती हो रही है।"

नौ मई 1931 के *'टाइम्स आफ इंडिया'* में यह घटना छपी थी :

"चूंकि बड़ौदा राज्य ने अपने यहां सवर्णों के साथ अन्त्यजों की बराबरी को मान्यता देने के लिए कानून बनाए हैं, इसलिए यह आशा की जाती है कि निकटवर्ती ब्रिटिश क्षेत्र के अस्पृश्यों के मुकाबले यहां के अस्पृश्यों की दशा अच्छी होगी। लेकिन हाल में एक दिन पदरास तालुका में एक

गरीब अन्त्यज औरत की खड़ी फसल को आग लगा दी गई और उसे बुरी तरह मारा-पीटा गया, क्योंकि उसने अपने बेटे को स्थानीय प्राइमरी स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा था। अब ऐसी ही एक घटना कादि प्रांत के चनास्मा गांव में हुई है। यहां अन्त्यजों की सहायता से एक कुआं खोदा गया, जिनसे यह वायदा किया गया कि वे भी कुएं से पानी ले सकेंगे। लेकिन जब कुआं बनकर तैयार हो गया, तब शुरू में यह कहा गया कि यह कुआं उनके लिए नहीं है, और जब उन्होंने पंच से शिकायत की तो उसने उन्हें पांच सौ फुट लंबी एक पाइप बिछाने और उसके सिरे पर अपने लिए नल की टोंटी लगाने की अनुमति दे दी। इसके बाद अचानक ही जहां नल बनाया गया था, उस जमीन का एक मालिक पैदा हो गया। तब इस पाइप लाइन को एक पोखर पर ले जाया गया, लेकिन इसका मतलब हुआ पोखर के पानी को गंदा करना, क्योंकि वहां लोग अपने गंदे कपड़े भी धोते। इसलिए नल कहीं और लगा दिया गया। लेकिन क्या इसके बाद मुसीबत टल गई? नहीं, क्रुद्ध सवर्ण हिंदुओं ने कई बार इस पाइप लाइन को तोड़ा और अन्त्यज पानी के लिए तरसते रहे। जब श्री गांधी के अपने ही धर्म के लोग अस्पृश्यों के साथ ऐसा बर्ताव करें तो उन्होंने इन्हें जो 'हरिजन' का नाम दिया है, यह कितना ठीक है?"

सात नवंबर 1928 के *'टाइम्स आफ इंडिया'* में श्री संजना ने अपने एक पत्र में पीने के पानी के बारे में अस्पृश्यों की दयनीय स्थिति का वर्णन किया है, जो श्री ठक्कर ने 1927 में देखी थी:

"वरसाड तालुका में श्री ठक्कर ने एक कुएं के पास देखा कि वहां एक भंगिन खड़ी लोगों से पानी मांग रही थी। वह वहां सवेरे से दोपहर तक खड़ी रही, लेकिन किसी ने भी उसे पानी नहीं दिया। आध्यात्मिकता की सबसे ज्यादा अनोखी व्याख्या तो उस प्रक्रिया में मिलती है, जिससे भंगियों को पानी दिया जाता है। यह पानी उनके बरतनों में सीधे नहीं उंडेला जा सकता। जो भी ऐसा करेगा, अपवित्र हो जाएगा। श्री ठक्कर ने बताया कि एक बार हमारे अध्यापक चुन्नीभाई ने अपनी बाल्टी से एक भंगी के बरतन में सीधे पानी डालने का दुस्साहस किया तो उन्हें इस पर कड़ी चेतावनी दी गई कि 'मास्टर, यहां यह सब नहीं चलेगा।' कुएं के पास ढलान पर एक छोटा-सा हौज बना दिया जाता है, और जिन लोगों में दया आती है, वे इस हौज में पानी डाल देते हैं। इस

हौज में नीचे की तरफ बांस की टोंटी लगी होती है। भंगिनें उस टोंटी के पास अपना बरतन रख देती हैं, जिसके भरने में घंटा-डेढ़ घंटा लग जाता है। श्री ठक्कर कहते है कि यह वह पानी होता है, जो घड़े भरने के बाद बच रहता है और जिसे औरतें नियम से या जब उन्हें पास में खड़ी भंगिन पर दया आती है तब उस हौज में डाल देती हैं।"

III

अस्पृश्यों को इस स्थापित व्यवस्था के अंतर्गत पढ़ने-लिखने का कोई अधिकार नहीं है और गांव के स्कूल में दाखिला लेने का तो निश्चित ही कोई अधिकार नहीं है। जिन अस्पृश्यों ने स्थापित व्यवस्था को तोड़ने का साहस किया है, उन्हें हिंदुओं ने कड़ी सजा दी है। इस प्रकार की अनेक घटनाओं में से कुछ घटनाएं निम्नलिखित हैं:

लाहौर से छपने वाले 30 जून 1921 के *'आर्य गजट'* से:

"एक महाशय ने *'यंग इंडिया'* में एक लेख में लिखा है कि सूरत जिले में सिसोदरी नामक एक गांव है। यहां थोड़े दिनों में इतनी राष्ट्रीय जागृति आ गई है कि यह गांव असहयोग आंदोलन के लिए मानो एक आदर्श बन गया है। लेकिन इसके बावजूद भी यहां हरिजनों के प्रति वैसा ही उपेक्षा भाव है, जैसा पहले था। लेखक का कहना है कि मैंने इस गांव के राष्ट्रवादी स्कूल की एक कक्षा में ढेड जाति के एक बच्चे को एक कोने में सबसे अलग दूर बैठे देखा। उसके चेहरे-मोहरे से लग रहा था कि वह एक अस्पृश्य बालक है। मैंने विद्यार्थियों से पूछा कि वह इस बालक को अपने साथ क्यों नहीं बिठाते? तो उन्होंने जवाब दिया कि हरिजन लोग जब तक दारू पीना और मांस खाना नहीं छोड़ेंगे, तब तक ऐसा नहीं होगा। वह हरिजन बच्चा तुरंत बोल उठा कि, मैंने यह सब छोड़ दिया है, इस पर सवर्ण जाति के बच्चे कुछ नहीं बोले।"

बारह फरवरी 1923 के *'प्रताप'* में महाशय संतरामजी ने लिखा है :

"हाल ही में सरकार ने एक ब्राह्मण अध्यापक की नियुक्ति की और उसे गांव में चमारों के बच्चों के स्कूल में पढ़ाने के लिए भेजा। जब वह वहां पहुंचा तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और दूसरी जाति के लोगों ने उसका बायकाट किया और कहा, तुम यहां चमारों को पढ़ाने और उन्हें हमारे

बराबर करने के लिए क्यों आए?"

ग्यारह अप्रैल 1924 के 'तेज' में स्वामी श्रद्धानंद ने लिखा है :

"खत्सयास में एक राष्ट्रवादी स्कूल है। मैं यहां 1921 में नवंबर महीने के आखिरी दिनों में गया था। वहां मैंने पूछा कि इस स्कूल में कितने हरिजन बच्चे पढ़ते हैं। मुझे बताया गया कि सिर्फ तीन और ये भी कक्षा के बाहर बरामदे में बैठते हैं। मैंने अपने भाषण में इसे बुरा कहा और कहा कि राष्ट्रवादी स्कूल में इन बच्चों को कक्षा के भीतर बैठने की इजाजत होनी चाहिए। स्कूल के मैनेजर ने मेरी सलाह के अनुसार काम किया। अगले दिन स्कूल की सभी बेंचें खाली थीं और आज तक उस राष्ट्रवादी स्कूल में ताला पड़ा हुआ है।"

अठारह अप्रैल 1924 के *'मिलाप'* से :

"यह घटना हौशंगाबाद की है। जिला परिषद् ने स्कूलों को एक परिपत्र भेजा कि हरिजन बच्चों को स्कूलों में पढ़ाया जाए। हेडमास्टरों ने इन आदेशों का पालन करना शुरू कर दिया। जब एक स्कूल ने कुछ हरिजन बच्चों को अपने यहां दाखिला दिया, तब इस पर आनरेरी मजिस्ट्रेट को बहुत बुरा लगा और उसने उस स्कूल से अपने बच्चों को हटा लिया। बाकी लोगों ने भी ऐसा ही किया। इन सबने मिलकर स्कूल समिति की बैठक बुलवाई, जिसमें प्रस्ताव पास किया गया कि स्कूलों में हरिजन बच्चों का दाखिला जनता की भावनाओं के विरुद्ध है। उन्होंने कहा कि हरिजन बच्चों के साथ बैठने से ब्राह्मण बच्चों को अपने-अपने जनेऊ बदलने पड़ते हैं, इसलिए यह स्कूल समिति हरिजन बच्चों को पढ़ाने का उत्तरदायित्व नहीं ले सकती।"

तीन अप्रैल 1932 के *'प्रताप'* से :

"अहमदाबाद, पहली अप्रैल 1932, बड़ौदा राज्य के नवगांव से समाचार मिला है कि जब से हरिजनों के स्कूल बंद कर दिए गए हैं और हरिजनों के बच्चों को गांव के सामान्य स्कूलों में दाखिला लेने की अनुमति दे दी गई है, गांव वालों ने हरिजनों को निरंतर सताना शुरू कर दिया है। बताया गया है कि हरिजन किसानों के भूसे के ढेर के ढेर जला दिए गए हैं। उनके कुओं में मिट्टी का तेल डाल दिया गया है और उनके घरों में आग लगाने की कोशिश की गई है। जब

एक हरिजन बच्चा स्कूल जा रहा था तो उसे रास्ते में मारा-पीटा गया और खुले आम हरिजनों का सामाजिक बहिष्कार किया जा रहा है।"

'हिंदुस्तान टाइम्स' के 26 मई 1939 के अंक से :

"खबर है कि जिले में कातीपूर गांव में कुछ लोगों ने एक रात्रि पाठशाला पर हमला कर दिया, जहां किसान और दूसरे लोगों को पढ़ाया जाता था। उन लोगों ने अध्यापक को पकड़ लिया और उससे स्कूल बंद कर देने के लिए कहा, क्योंकि अस्पृश्यों के लड़के पढ़-लिख लेने के बाद बराबरी का बर्ताव करने लगेंगे। जब अध्यापक ने उनकी बात नहीं मानी तो उसकी पिटाई की गई और बालकों को भगा दिय गया।"

इस संबंध में मैं आखिरी उदाहरण 1935 की एक घटना का दे रहा हूं, जो बंबई प्रेसिडेंसी में अहमदाबाद जिले में धोलका तालुका में कवीथा गांव में 8 अगस्त 1935 को हुई थी।

"बंबई सरकार ने जब सरकारी स्कूलों में अस्पृश्यों के बच्चों को दाखिल किए जाने के बावत आदेश जारी कर दिए, तब कवीथा गांव के अस्पृश्यों ने सोचा कि क्यों न इस आदेश का लाभ उठाया जाए। लेकिन उन पर जो कुछ गुजरी, वह निम्नलिखित है:

"आठ अगस्त 1935 को कवीथा गांव के अस्पृश्य अपने चार बच्चों को स्कूल में दाखिल कराने के लिए ले गए। इसे देखने के लिए स्कूल के चारों तरफ बहुत से सवर्ण हिंदू जमा हो गए। दाखिले की कार्यवाही शांतिपूर्वक संपन्न हो गई और कोई अप्रिय घटना नहीं हुई। लेकिन अगले ही दिन गांव के सवर्ण हिंदुओं ने अपने-अपने बच्चों को उस स्कूल से हटा लिया, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि उनके बच्चे अस्पृश्यों के बच्चों के साथ पढ़ें और उन्हें छूत लग जाए।

"उसके कुछ दिनों के बाद एक ब्राह्मण ने 13 अगस्त 1935 को एक अस्पृश्य को मारा-पीटा। उस गांव के कुछ अस्पृश्य लोग उस ब्राह्मण के खिलाफ मजिस्ट्रेट की कचहरी में फौजदारी की शिकायत लिखवाने के लिए धोलका पहुंचे। जब हिंदुओं ने देखा कि अस्पृश्यों के घरों में पुरुष वर्ग नहीं है, तब उन्होंने उनके घरों पर हमला बोल दिया। वे सभी लाठी, भाला और तलवारें लिए हुए थे। हमला करने वालों में सवर्ण हिंदुओं की औरतें भी थीं। उन्होंने अस्पृश्य बूढ़ों और औरतों को

मारना-पीटना शुरू कर दिया। इनमें से कुछ तो जंगलों में भाग गए। कुछ अपने दरवाजे बंद कर अपने-अपने घरों में छिप गए। इन हमला करने वालों ने उन अस्पृश्यों पर अपना गुस्सा उतारा, जिन पर उन्हें अपने बच्चों को गांव के स्कूल में दाखिला लेने के मामले में अगुवाई करने का शक था। उन्होंने उनके दरवाजे तोड़ डाले और जब उन्हें वे लोग नहीं मिले, तब उन्होंने उनके घरों की छतों की खपरैल और धन्नियां तहस-नहस कर दीं।"

"जिन अस्पृश्यों को मारा-पीटा गया था, उन्हें अपने उन सगे-संबंधियों की चिंता थी, जो धोलका गए हुए थे और जो अब लौटने वाले थे। जब सवर्ण हिंदुओं को यह पता चला कि धोलका से वे लोग लौटने वाले हैं, तब वे झाड़ियों में छिपकर बैठ गए। जैसे ही एक अस्पृश्य औरत को इस बात का पता चला, वह रात के अंधेरे में छिपकर गांव से बाहर निकल गई। वह उन लोगों से मिली, जो वापस लौट रहे थे और उसने उन्हें बताया कि सवर्ण हिंदुओं का गिरोह हथियारों से लैस होकर उनकी ताक में झाड़ियों में छिपा बैठा है, और इसलिए वे गांव न जाएं। उन्होंने यह सोचकर उस औरत की बात को अनसुनी कर दिया कि उनकी गैरहाजिरी में तो हिंदू लोग और भी ज्यादा जुल्म ढा सकते हैं। साथ ही वे इस बात से भी सहमें हुए थे कि अगर वे गांव में घुसे, तब वे मार डाले जाएंगे। इसलिए वे लोग आधी रात तक गांव के बाहर एक खेत में पड़े रहे। इस बीच हिंदुओं का गिरोह जो झाड़ियों में छिपा हुआ था, हार कर गांव लौट गया। अस्पृश्य अपने-अपने घरों में रात में करीब तीन बजे लौटे। अगर वे इससे पहले आ गए होते तो उनकी मुठभेड़ जालिम हिंदुओं के गिरोह से हो जाती और उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया होता। जब उन्होंने देखा कि उनके घरों को बुरी तरह से उजाड़ दिया गया है, तब वे सवेरा होने के पहले अहमदाबाद पहुंच गए और उन्होंने हरिजन सेवक संघ के मंत्री को सारी घटना कह सुनाई। यह संस्था वही है, जो श्री गांधी ने अस्पृश्यों के कल्याण के लिए स्थापित की है। लेकिन मंत्री भी लाचार था। सवर्ण जाति के लोगों ने न केवल मार-पीट की, बल्कि उन्होंने हरिजनों का जीना दूभर कर देने का षड्यंत्र रच रखा है। उन्होंने अस्पृश्यों को मजदूरी पर रखने से मना कर दिया है। उन्होंने अस्पृश्यों को खाने का सामान बेचने से भी मना कर दिया

है। वे अस्पृश्यों के मवेशियों को चरने देने से रोकने लग गए हैं और जब-तब मौका पाकर अस्पृश्य औरतों और आदमियों को मारने-पीटने लगे हैं। यही नहीं, उन्होंने गुस्से में उस कुएं में मिट्टी का तेल भी डाल दिया, जिससे अस्पृश्य अपने पीने के लिए पानी लिया करते हैं। ऐसा उन्होंने कई दिनों तक किया। इसका नतीजा यह हुआ कि अस्पृश्य पीने के पानी के लिए तरसने लगे। जब नौबत यहां तक पहुंच गई तो उन्होंने सोचा कि इस बारे में क्यों न मजिस्ट्रेट के यहां फौजदारी का मामला दायर कर दिया जाए। उन्होंने यह मुकदमा 17 अक्तूबर को दायर कर दिया। यह मुकदमा कुछ सवर्ण हिंदुओं के खिलाफ दायर किया गया है।"

"इस मामले में सबसे अजीब पक्ष श्री गांधी और उनके सहयोगी सरदार वल्लभभाई पटेल की भूमिका का है। श्री गांधी ने यह पूरी घटना जानते हुए कि सवर्ण जाति के लोगों ने कवीथा गांव के अस्पृश्यों पर क्या-क्या अत्याचार और जुल्म किए, अस्पृश्यों को केवल यही सलाह देना ही काफी समझा कि वे गांव को छोड़ दें। उन्होंने इन बदमाशों पर अदालत में मुकदमा दायर करने की सलाह तक नहीं दी। उनके सहयोगी श्री वल्लभभाई पटेल ने जो भूमिका अदा की, वह तो और भी ज्यादा अजीब थी। वह सवर्ण हिंदुओं को यह समझाने कवीथा गए कि वे अस्पृश्यों पर जुल्म न करें। पर उन्होंने पटेल की एक न सुनी। इसके बावजूद इस व्यक्ति ने अस्पृश्यों की इस बात का विरोध किया कि उन लोगों पर मुकदमा दायर किया जाए और अदालत से उन्हें सजा दिलवाई जाए। उनके इस विरोध के बावजूद अस्पृश्यों ने शिकायत दर्ज कराई। लेकिन उन्होंने अस्पृश्यों पर इस बात के लिए दबाव डाला कि वे सवर्ण हिंदुओं के विरुद्ध की गई इस शिकायत को उनके द्वारा यह भरोसा दिलाने पर वापस ले लें कि वे उन पर अब आगे ज्यादती नहीं करेंगे। लेकिन अस्पृश्य इस समझौते को कभी भी लागू नहीं करा सके। अस्पृश्यों ने अत्याचार को भोगा और श्री गांधी के मित्र श्री वल्लभभाई पटेल की सहायता से अत्याचारी साफ-साफ बच गए।"

IV

हिंदू कहते हैं कि अस्पृश्य भी हिंदू हैं। लेकिन इसके बावजूद एक अस्पृश्य का शवदाह हिंदुओं के श्मशान में नहीं किया जा सकता।

सात जून 1946 के *'फ्री प्रेस'* से :

"श्री ए.एस. वैद्यनाथ अय्यर से हमें एक पत्र प्राप्त हुआ है, जिसमें एक फौजदारी मुकदमे का हवाला देते हुए जनता का ध्यान उन क्रूर अत्याचारों की ओर आकृष्ट किया गया है, जो हरिजनों को अस्पृश्यता के कारण भुगतने पड़ते हैं। इस मुकदमे में मदुरै के दो हरिजनों को चार महीने के कठोर कारावास की सजा इसलिए दी गई कि उन्होंने कुछ ऐसा काम किया था, जिससे लोगों की भावनाओं को ठेस पहुंच सकती थी।"

श्री वैद्यनाथ अय्यर लिखते हैं: मदुरै के किसी हरिजन ने अपने सबसे बड़े लड़के का शवदाह नगर पालिका के श्मशान में ऐसी जगह न कर जो हरिजनों के लिए आरक्षित थी, वहां बने एक शेड के नीचे उस जगह किया जो सवर्ण हिंदुओं के लिए आरक्षित थी। उस हरिजन का कहना है कि मुझे इस प्रकार के आरक्षण की कोई जानकारी नहीं थी, और यह कि उस समय बूंदा-बांदी हो रही थी और यह जगह उस दूसरी जगह से अच्छी थी। उस समय किसी सवर्ण हिंदू ने कोई एतराज नहीं किया था और न इस बात का कोई प्रमाण है कि इस कारण किसी की भावनाओं को ठेस पहुंची थी। लेकिन मदुरै की पुलिस को जब इस घटना का पता चला, तब उसने उस लड़के के पिता और उसके किसी सगे-संबंधी पर इस आधार पर मुकदमा चला दिया कि चूंकि हरिजन अस्पृश्य होते हैं, इसलिए ऐसे काम करने से लोगों की भावनाओं को ठेस पहुंच सकती थी।

श्री अय्यर आगे लिखते हैं कि उन्होंने इस मामले की जानकारी मद्रास मंत्रिमंडल को दे दी है।

बाईस अप्रैल 1945 के *'सावधान'* से :

"अठारह मार्च 1945 को मुजफ्फरनगर जिले के फलोदा गांव में एक भंगी की मौत हो गई। गांव के भंगी उसके शव को श्मशान ले गए। इससे त्यागी ब्राह्मण आग-बबूला हो उठे और उन्होंने भंगियों को अपना मुर्दा हिंदुओं के श्मशान में लाने की गलती करने के लिए खूब गालियां दीं। भंगियों ने कहा कि वे भी हिंदू ही हैं और वे मृतक का शवदाह करेंगे। लेकिन ब्राह्मण कहां मानने वाले थे। उन्होंने भंगियों से कहा कि

'चाहे तुम हिंदू हो या मुसलमान, तुम अपने मुर्दे को गाड़ो, और अगर ऐसा नहीं किया तो हम ही तुम्हारे मुर्दे को जमीन में गाड़ देंगे।' इस तरह धमकियां दी गईं, तो मारपीट के डर से उन्होंने अपना मुर्दा जमीन में गाड़ दिया।"

यहां सिर्फ इतनी-सी बात नहीं है। यहां एक और बात भी ध्यान देने की है। सवर्ण हिंदू अपने मुर्दों का संस्कार जलाकर करते हैं। चूंकि हिंदुओं के रीति-रिवाजों का जो उनकी श्रेष्ठता के प्रतीक हैं, अनुकरण करना अस्पृश्यों की उद्दंडता है, इसलिए उन्हें अपने शवों का संस्कार जमीन में गाड़कर ही करना चाहिए, चाहे वे इसे चाहें या न चाहें।

अनिवार्य रूप से जमीन में गाड़कर शव का संस्कार करने की एक घटना का समाचार 6 जून 1924 के *'मिलाप'* में इस प्रकार छपा है :

"अस्पृश्यों में जागृति का मुख्य कारण हिंदुओं के द्वारा उन पर किया जा रहा अत्याचार है। मैं इस बात से अवगत नहीं था, लेकिन मुझे विभिन्न कार्यकर्ताओं से जो समाचार मिले हैं, उनसे मुझे बड़ा कष्ट हुआ है। एक स्थान से मुझे यह सूचना मिली कि अस्पृश्यों को अपने मुर्दे तक नहीं जलाने दिए जाते। ऐसा लगता है कि इससे वहां के भंगियों में एक नई प्रथा शुरू हो गई है। अब उन्होंने मुर्दे को जमीन में शायद इस कारण सिर के बल गाड़ना शुरू कर दिया है कि जिससे उनमें और दूसरों में अंतर रहे, जो आमतौर पर मुर्दे को चित लिटाकर गाड़ते हैं। भंगी सोचते हैं कि अगर वे दूसरों की नकल करेंगे, तो उनके लिए अपमानजनक होगा।"

V

यज्ञोपवीत पहनना कुलीन होने की निशानी है। अस्पृश्यों ने भी अपने को कुलीन कहलाने के विचार से यज्ञोपवीत पहनना शुरू कर दिया। उत्तर प्रदेश के गढ़वाल जिले के रिंगवाड़ी गांव के सवर्ण हिंदुओं द्वारा अस्पृश्यों पर किए गए अत्याचार का समाचार 6 जून के *'नेशनल हेराल्ड'* में छपा, जो इस प्रकार है:

"गढ़वाल में चांदकोट में हरिजनों के दस परिवार, जिनमें कुल मिलाकर तैंतीस लोग हैं, सवर्ण हिंदुओं द्वारा सताए जाने पर लगभग

दो महीने तक इधर-उधर मारे-मारे फिरते रहने के बाद वहां के जिलाधिकारियों की सहायता से अपने गांव रिंगवाड़ी वापस आ गए। याद होगा कि इन लोगों ने महात्मा गांधी और स्वामी श्रद्धानंद के अछूतोद्धार आंदोलन से प्रेरित होकर जनेऊ पहन लिए थे और रोजाना सन्ध्योपासना करनी शुरू कर दी थी। लेकिन गढ़वाल के सवर्ण हिंदुओं को यह सहन नहीं हुआ, क्योंकि उनका कहना था कि यह उनके विशेषाधिकारों के लिए एक चुनौती स्वरूप है। उन्होंने हरिजनों को सताना व उनका सामाजिक बहिष्कार करना शुरू कर दिया। उनसे कहा गया कि वे अपनी बरातों में डोली और पालकी का इस्तेमाल न करें।"

"एक जगह चार हरिजनों को पकड़ कर उनसे जबरदस्ती एक भैंसा कटवाया गया और उन्हें उसका गोश्त खाने के लिए कहा गया। रिंगवाड़ी में इस तरह का अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया, जब इन हरिजनों के लिए सभी झरने, जानवरों के चरने की जगहों आदि पर रोक लगा दी गई, जो सवर्ण हिंदुओं की बात मानने के लिए तैयार नहीं थे। इसके परिणामस्वरूप ही उक्त दस परिवारों को और अधिक अत्याचार के डर से अपना गांव अंधेरी रात में छोड़ना पड़ा था।"

इसी तरह की और भी घटनाएं निम्नलिखित हैं:

"कुछ आर्य समाजियों ने कुछ अस्पृश्यों को ऊंची जाति का बनाने की कोशिश की और उन्हें पहनने के लिए ऊंची जाति का प्रतीक, अर्थात जनेऊ दिया। लेकिन अधिकांश सनातनियों को यह भी बर्दाश्त नहीं हुआ, क्योंकि उनके धर्म में अस्पृश्यों के लिए जनेऊ पहनने की इजाजत नहीं थी। इसीलिए सवर्ण हिंदू उन अस्पृश्यों पर अत्याचार करने लगे हैं, जो जनेऊ पहनते हैं।"

"आर्य समाजियों ने जम्मू राज्य के मीरपुर जिले के मोइला गांव में भगत हरिचंद की शुद्धि की और उसे जनेऊ पहनने के लिए दिया। वहां के हिंदू जाटों ने उसे सताना शुरू कर दिया और उससे जनेऊ उतारने के लिए कहा। लेकिन हरिचंद अपने धर्म पर अड़ा रहा। अंत में एक दिन जब भगत हरिचंद ने गायत्री पाठ समाप्त किया तो जाटों ने उसको पकड़ लिया और उसकी बुरी तरह से पिटाई की तथा जनेऊ तोड़कर फेंक दिया। इसका कारण यह था कि शुद्ध होने से पहले वे (शुद्धमेघ)

जाटों को गरीब नवाज कहा करते थे, लेकिन बाद में उनसे 'नमस्ते' करने लगे थे।'"

चौदह सितंबर 1929 के *'आर्य गजट'* से :

"गुरदासपुर जिले में बरहमपुर कस्बे के पास रमानी गांव के हिंदू राजपूतों ने अपने गांव के अस्पृश्यों को उनके घरों से बुलाया और कहा कि वे अपने-अपने जनेऊ उतार दें और कसम खाएं कि भविष्य में वे इसे कभी भी नहीं पहनेंगे, नहीं तो उन्हें जान से मार डाला जाएगा। इस पर अस्पृश्यों ने शांतिपूर्वक कहा– 'महाराज, आप हमसे क्यों नाराज हैं? आपके खुद के भाई, आर्य समाजियों ने ये जनेऊ हमें पहनने के लिए दिए हैं और कहा है कि हम हमेशा इस जनेऊ की रक्षा करें, क्योंकि यह हिंदू धर्म की सच्ची निशानी है। अगर आपको इससे एतराज है, तो आप इसे हमारे शरीर से उतार सकते हैं।' इस पर राजपूत उन पर लाठी लेकर बरस पड़े और काफी देर तक उनको मारते-पीटते रहे। अस्पृश्यों ने इसको बड़ी सहनशक्ति से झेला और जनेऊ उतारने से इंकार कर दिया। इन हिंदुओं को उनके इस प्रकार पिटते रहने पर कुछ भी तरस नहीं आया और तीन या चार राजपूतों ने मिलकर गौरी राम नाम के हरिजन का जनेऊ तोड़ डाला और उसके शरीर पर खुरपी से खोद-खोदकर जनेऊ का निशान बना दिया।"

बारह अक्तूबर 1929 के *'मिलाप'* से :

"बहमनी गांव के राजपूतों ने अस्पृश्यों के खिलाफ बहुत दिनों से एक अभियान छेड़ रखा है। वहां जनेऊ तोड़ने के बारे में अदालत में एक मुकदमा चल रहा है। इसी अदालत में एक और मुकदमा चल रहा है, जो एक अस्पृश्य औरत के बारे में है। कहा जाता है कि यह औरत 7 अक्तूबर 1929 को जब फसल काटने जा रही थी, तब एक राजपूत ने उसे बुरी तरह से पीटा, जिससे उसका शरीर लहूलुहान हो गया। यह औरत चारपाई पर लिटाकर घर लाई गई थी।"

VI

अगर किसी हिंदू की उपस्थिति में कोई अस्पृश्य चारपाई पर बैठा रहता है तो उसकी क्या हालत होती है, यह इस घटना से स्पष्ट है, जो जुलाई

1938 के *'जीवन'* में छपी थी:

"सीतापुर जिले के मारगांव पुलिस चौकी के तहत गांव पछेरा में नंदराम और मंगली प्रसाद ने अपने कुछ दोस्तों और रिश्तेदारों को घर पर भोज पर बुलाया हुआ था। जब मेहमान लोग चारपाइयों पर बैठे हुक्का पी रहे थे, तभी उधर से ठाकुर सूरज बक्श सिंह और हरपाल सिंह जमींदार आ निकले। उन्होंने नंदराम और मंगली प्रसाद को बुलाकर उन लोगों के बारे में पूछा जो चारपाई पर बैठे हुक्का पी रहे थे। मंगली प्रसाद ने कहा कि वे लोग उसके दोस्त और रिश्तेदार हैं, और कहा कि क्या केवल ठाकुर ही चारपाई पर बैठ सकते हैं। इस पर दोनों ठाकुर आपे से बाहर हो गए। दोनों ठाकुरों ने उन दोनों भाइयों को और उनके आदमियों ने मेहमानों को बुरी तरह से मारा-पीटा। इसके परिणामस्वरूप एक आदमी और एक औरत बेहोश हो गए, और बाकी लोगों को बुरी तरह से चोटें आई हैं।"

VII

अस्पृश्य हिंदू हैं। उन्हें दूसरों के समान सभी अधिकार प्राप्त हैं। लेकिन उन्हें वे अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते, जो हिंदू समाज-व्यवस्था के नियमों के आड़े आते हैं।

उदाहरण के लिए, कोई अस्पृश्य किसी धर्मशाला में नहीं ठहर सकता, जहां और सभी ठहर सकते हैं। इस संबंध में फतेहगढ़ के एक अस्पृश्य श्री कन्हैया लाल जाटव के अनुभव का समाचार अगस्त 1938 के *'जीवन'* में छपा, जो निम्नलिखित है :

"जब मैं 15 अगस्त 1938 को रात के दस बजे इलाहाबाद जंक्शन के पास एक धर्मशाला में ठहरने के लिए गया, तो मुझे ठहरने में कोई परेशानी नहीं हुई। मैने बतौर पेशगी एक रुपया दिया, चारपाई ली और उस पर बिस्तर लगा दिया। लेकिन जब धर्मशाला में रहने वाले लोग मैनेजर के पास अपना पता लिखाने गए और जब मैंने अपना पता लिखाते समय अपनी जाति जाटव लिखी, तब मैनेजर आग-बबूला हो गया और उसने कहा कि यह धर्मशाला नीच जाति के लोगों के ठहरने के लिए नहीं है। उसने मुझे तुरंत धर्मशाला छोड़कर चले जाने को कहा।

मैंने उससे कहा कि धर्मशाला के नियमों के मुताबिक यह धर्मशाला सिर्फ हिंदुओं के ठहरने के लिए है और किसी अस्पृश्य के ठहरने पर कोई पाबंदी नहीं है। मैंने उससे पूछा, क्या मैं हिंदू नहीं हूं, जो तुम मुझे बाहर निकाल रहे हो। मैंने यह भी कहा कि मैं फर्रुखाबाद का रहने वाला हूं और मैं इलाहाबाद में किसी को नहीं जानता हूं। मैं रात के ग्यारह बजे कहां जाऊं। इस पर मैनेजर आपे से बाहर हो गया और उसने *'रामायण'* की यह चौपाई दोहराते हुए (ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी) कहा कि 'एक नीच जाति का होने के बावजूद नियम-कानून की बात करने का दुस्साहस करता है। तेरी जब तक पिटाई न की जाएगी, तू बाहर नहीं जाएगा।' तब एकाएक उसने मेरा बिस्तर और अन्य सामान उठाकर धर्मशाला से बाहर फेंक दिया। वहां खड़े सभी लोग मुझे पीटने के लिए तैयार हो गए। स्थिति की गंभीरता को समझकर मैंने तुरंत धर्मशाला छोड़ दी और मैं उसके सामने वाली एक दुकान से लगे तख्ते पर आकर लेट गया। मुझे उस दुकानदार को रात-भर के लिए किराए के रूप में दो आने देने पड़े। मैं अपने अनुसूचित जाति के भाइयों से अपील करता हूं कि वे जगह-जगह मीटिंग करें और सरकार पर इस बात के लिए जोर डालें कि वह या तो हम लोगों के लिए अलग धर्मशाला बनवाए या सभी मौजूदा धर्मशालाएं हम लोगों के लिए भी खोल दे।"

VIII

स्थापित समाज-व्यवस्था में मरे हुए जानवरों को उठाने और सफाई आदि का काम करना हिंदुओं की प्रतिष्ठा के विरुद्ध है। यह काम अस्पृश्यों को ही करना चाहिए। अस्पृश्य भी सोचने लगे हैं कि ये उनके लिए अपमानजनक काम है, इसलिए वे इन कामों को करने से इंकार करने लगे हैं। लेकिन ये काम हिंदुओं द्वारा अस्पृश्यों से उनकी मर्जी के बिना जबरदस्ती कराए जाते हैं। जून 1938 के *'जीवन'* में यह सामाचार छपा है :

"मई 1938 में एक दिन, अलीगढ़ जिला, थाना बर्ला, गांव बिपौली में जब भज्जू राम जाटव लगभग ग्यारह बजे दिन में अपने घर में था, तब पृथीक, होडल, सीताराम, देवी और चुन्नी नाम के कुछ ब्राह्मण लाठियां लिए हुए उसके घर आए और उन्होंने भज्जू से मरे हुए मवेशी

को उठाने के लिए चलने के बारे में जोर-जबरदस्ती की और जब उसने यह कहकर इंकार कर दिया कि 'मैं यह काम नही करता हूं, आप किसी और को ले जाएं जो यह काम करता है', तब उन ब्राह्मणों ने उसको निर्दयतापूर्वक लाठियों से मारा-पीटा।"

इसी पत्रिका के अक्तूबर 1938 के अंक में निम्नलिखित समाचार छपा है :

"चौबीस अक्तूबर 1938 को मथुरा जिले की सादाबाद तहसील के लोधारी गांव में एक ब्राह्मण का कोई मवेशी मर गया। जब गांव के अस्पृश्य लोगों से मुर्दा जानवर को उठाने के लिए कहा गया, तब उन्होंने इंकार कर दिया। इससे हिंदू इतने चिढ़ गए कि उन्होंने अनुसूचित जाति के लोगों से कहा कि वे उनके खेतों में टट्टी-पेशाब के लिए नहीं जा सकते और न ही उनके जानवर उनके खेतों में चर सकते हैं।"

IX

अस्पृश्य लोग साफ-सुथरे कपड़े नहीं पहन सकते, न ही वे सोने-चांदी के जेवर पहन सकते हैं। अगर अस्पृश्य इस नियम का पालन नहीं करते, तब हिंदुओं को उनको सबक सिखाने में कोई संकोच नहीं होगा। अस्पृश्य इस नियम को तोड़ने की कोशिश करते रहते हैं। लेकिन इसका क्या नतीजा होता है, यह निम्नलिखित घटनाओं से स्पष्ट है, जो समाचार-पत्रों में अक्सर प्रकाशित होती रहती हैं :

"1922 तक बूंदी के बरार जिले के बलाई नामक अस्पृश्य जाति को गेहूं का आटा खाना मना था। फरवरी 1922 को जयपुर के सकतगढ़ में एक चमार स्त्री को इसलिए मारा-पीटा गया कि उसने अपने पैरों में चांदी के जेवर पहन रखे थे। उसे बताया गया कि चांदी के जेवर केवल बड़ी जाति के लोग ही पहन सकते हैं और वे ही गेहूं का आटा खा सकते हैं। नीच जाति के लोग इनकी उम्मीद न करें। अब तक हम यही सोचते थे कि ये पुराने रीति-रिवाज समय के साथ-साथ बीत चुके हैं।"

साफ-सुथरे कपड़े और सोने के गहने पहनने पर मध्य भारत की अस्पृश्य बलाई जाति के लोगों पर जो अत्याचार किया गया, उसके बारे में 'टाइम्स

आफ इंडिया' के 4 जनवरी 1928 के अंक में निम्नलिखित समाचार प्रकाशित हुआ :

"मई 1927 के महीने में इंदौर जिले के कनारिया, बिछौली हप्सी, बिछौली मरदाना और लगभग पंद्रह अन्य गांवों के सवर्ण हिंदुओं अर्थात पाटिलों और पटवारियों सहित कलोतों, राजपूतों और ब्राह्मणों ने अपने-अपने गांवों में बलाई जाति के लोगों को यह चेतावनी दी कि अगर वे लोग गांव में उनके साथ रहना चाहते हैं, तो उन्हें निम्नलिखित नियमों का पालन करना पड़ेगा–

1. बलाई जाति के लोग जरी की किनारी वाली पगड़ी नहीं पहनेंगे,
2. वे रंगीन या फैंसी किनारीदार धोती नहीं पहनेंगे,
3. वे हिंदू की मृत्यु होने पर उसके रिश्तेदारों को खबर करने जाएंगे, चाहे वे कितने ही दूर क्यों न रहते हों,
4. वे हिंदुओं के यहां विवाह के अवसर पर बरात के आगे और विवाह के दौरान गाने-बजाने का काम करेंगे,
5. बलाई स्त्रियां फैंसी लहंगा व कुर्ता नहीं पहनेंगी,
6. बलाई स्त्रियां हिंदू घरों में दाई वगैरह का काम करेंगी,
7. बलाइयों को ये खिदमतगारी बिना उजरत करनी होगी और हिंदू खुशी से जो दें, उसे उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा, और
8. अगर बलाई इन शर्तों को नहीं मानते हैं तो वे गांव छोड़ दें।

जब बलाइयों ने इन शर्तों को मानने से इंकार कर दिया, तब हिंदुओं ने उनके विरुद्ध कार्रवाई शुरू कर दी। बलाइयों का कुओं से पानी लेना बंद कर दिया गया। वे अपने जानवरों को चरा नहीं सकते थे। बलाइयों का हिंदुओं की जमीन पर से होकर गुजरना बंद कर दिया गया। अगर किसी बलाई के खेत के चारों ओर हिंदुओं के खेत थे, तो उसका अपने खेत तक जाना रोक दिया गया। हिंदुओं ने अपने जानवर बलाइयों के खेत में चरने के लिए छोड़ दिए।

बलाइयों ने इंदौर दरबार में इन अत्याचारों के खिलाफ गुहार की, परंतु उन्हें समय पर मदद नहीं मिली और अत्याचार बढ़ता गया। सैकड़ों

बलाइयों को अपने बाल-बच्चों सहित अपने-अपने गांव छोड़ने पड़े, जहां उनके पुरखे पीढ़ियों से रहते थे और उन्हें पड़ोस की धार, देवास, बागली, भोपाल, ग्वालियर नामक रियासतों के गांवों मे रहने के लिए जाना पड़ा।

हाल में रेवती गांव के हिंदुओं द्वारा जो इंदौर शहर के उत्तर में सिर्फ आठ मील दूर है, बलाइयों के बारे में अन्य हिंदुओं द्वारा बनाए गए नियमों के आधार पर स्टाम्प लगे शर्तनामा पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया, जिसे करने से बलाइयों ने इंकार कर दिया। कहा जाता है कि उनमें से कुछ बलाइयों की हिंदुओं ने पिटाई की, एक बलाई को खंबे से बांध दिया गया और उससे कहा गया कि उसे तभी छोड़ा जाएगा, जब वह समझौते पर हस्ताक्षर के लिए राजी हो जाएगा।''

एक अन्य घटना 21 जनवरी 1928 के *'आर्य गजट'* में छपी है :

''अब तक लोग यही समझते थे कि हरिजनों पर अत्याचार की घटनाएं अधिकतर मद्रास में होती हैं, लेकिन अब शिमला के महाराणा का व्यवहार सुनकर लोगों का भ्रम दूर हो गया है। अब इन घटनाओं के लिए इतनी दूर जाने की जरूरत नहीं। शिमला जिले में एक जाति है 'कोली', जिसके लोग काफी सुंदर और मेहनती होते हैं। उस इलाके के हिंदू इन्हें अस्पृश्य मानते हैं, हालांकि वे ऐसा कोई काम नहीं करते, जिसके कारण उन्हें हिंदू धर्म में अस्पृश्य कहा जाए। इस जाति के लोग न केवल बलिष्ठ और सुडौल होते हैं, बल्कि वे बुद्धिमान भी होते हैं। शिमला की पहाड़ियों और उसके आसपास रहने वाले लोगों द्वारा जो भी गीत गाए जाते हैं, वे इन्हीं कोलियों के ही रचे हुए हैं। ये लोग दिन-भर मेहनत करते हैं और ब्राह्मणों को बहुत सम्मान देते हैं, लेकिन तो भी वे ब्राह्मणों के घरों के पास से होकर नहीं जा सकते। उनके बच्चे स्कूलों और पाठशालाओं में नहीं पढ़ सकते। उनकी स्त्रियां सोने के आभूषण नहीं पहन सकतीं। कहा जाता है कि कुछ कोली पंजाब गए और वहां उन्होंने पैसा कमाया, जिससे उन्होंने सोने की अंगूठियां और कानों की बालियां खरीदीं। जब वे इन वस्तुओं को लेकर अपने-अपने घर लौटे, तब उन्हें जेल भेज दिया गया और उन्हें तब तक नहीं छोड़ा गया, जब तक कि उन्होंने ये सारी चीजें रियासत के अधिकारियों की नजर नहीं कर दीं।

तेईस जून 1926 के *'प्रताप'* समाचार-पत्र में निम्नलिखित पत्र छपा है :

स्वामी रामानंद संन्यासी लिखते हैं– 23 मार्च 1926 की शाम को मेरे पास जाटों के चंगुल से छूटकर एक चमार आया। उसने मुझे गुड़गांव जिले में फरीदाबाद के पास खेड़ी गांव में अपनी जाति के लोगों पर किए गए अत्याचार की एक बड़ी दर्दभरी घटना सुनाई। मैं 24 मार्च को सवेरे फरीदाबाद पहुंचा, ताकि मैं इस मामले की छानबीन खुद कर सकूं। मैंने जो कुछ छानबीन की, उससे निम्नलिखित तथ्यों का पता चला–

"गोरखी नाम के एक चमार की लड़की का ब्याह 5 मार्च को हुआ। इस चमार की आर्थिक स्थिति अन्य चमारों की तुलना में अच्छी थी, और उसने अपने मेहमानों का स्वागत ठीक वैसे ही किया, जैसे ऊंची जातियों में किया जाता है। जब उसने अपनी बेटी को विदा किया, तो उसे सोने के तीन जेवर दे दिए। यह खबर जाटों में फैल गई और उनमें इस बात की खूब चर्चा रही। आखिर वे इस नतीजे पर पहुंचे कि नीची जाति के आदमी ने उनकी बराबरी करने की जो कोशिश की है, उससे ऊंची जाति के लोगों की तौहीन हुई है। 20 मार्च के सवेरे तक कोई वारदात नहीं हुई। लेकिन 21 तारीख को जाटों ने इस पर विचार करने के लिए एक पंचायत बुला ली। उसी दिन चमारों का एक दल जिसमें ज्यादातर लड़के, लड़कियां और औरतें थीं, मेहनत-मजदूरी करने फरीदाबाद जा रहा था। अभी वे कुछ ही दूरी पर धर्मशाला के आस-पास ही पहुंचे थे कि जाटों ने हमला बोल दिया। आदमियों को बुरी तरह मारा-पीटा गया और औरतों की जूतों से खबर ली गई। कुछ की कमर की हड्डी तोड़ दी गई और कुछ के हाथ-पैर तोड़े गए। यही नहीं हुआ, बल्कि उनके औजार तक छीन लिए गए। उस समय उधर से एक मुसलमान गुजर रहा था। जाटों ने उसे भी पकड़ लिया और उससे कानों की सोने की बालियां तथा 28 रुपये छीन लिए। 22 मार्च को कुछ जाटों का एक दल चमारों के खेतों में घुस गया और उसने वहां सब-कुछ तहस-नहस कर दिया। इसमें लगभग एक हजार रुपये तक की फसल का नुकसान था। उसी समय कोरी का बेटा ननुआ खेत में काम कर रहा था। जाटों ने उसे भी मारा-पीटा। इसके बाद 22

मार्च को ही जाटों का एक और दल निकल आया, जो मिट्‌टी के तेल में भिगोई हुई जलती मशालें लिए हुए था। उनका इरादा चमारों के घरों में आग लगाने का था, लेकिन वे लोग लौट आए। 23 मार्च की आधी रात को उस लड़की के दादा के मकान में आग लगा दी गई, जिसका विवाह उक्त 5 मार्च को हुआ था। इस समय यह मकान राख का ढेर हो चुका है। यहां लगभग 90 रुपये मूल्य की जूते बनाने की छह तैयार खालें रखी हुई थीं। मकान में रखे अन्य सामान के साथ ये खालें भी जल गईं। अब हालत यह है कि जाटों ने कस्बे को घेर रखा है, जिससे कोई चमार बाहर न जा सके। जाटों के डर के मारे बनियों ने भी चमारों को सौदा बेचना बंद कर दिया है। तीन दिन से चमार और उनके मवेशी भूख से मर रहे हैं।"

अभी हाल ही में एक घटना मलाबार में हुई। इस घटना का ब्यौरा मलाबार में वहां के एम.एल.ए., श्री के कन्नन की अध्यक्षता में 5 जून को चेरुकुन्न में हुई प्रथम चिराकल तालुका हरिजन कांफ्रेंस में पारित निम्नलिखित प्रस्ताव में मिलता है :

यह कांफ्रेंस हिंदुओं, मुसलमानों और ईसाइयों द्वारा मलाबार की अनुसूचित जातियों पर अमानवीय दमन की बढ़ती हुई घटनाओं, विशेष रूप से पोन्नानी तालुका के नत्तिका फिरका गांव की अनुसूचित जातियों पर बेरोक-टोक किए जा रहे भयंकरतम दमन की घटनाओं की ओर सरकार और जनता से तुरंत ध्यान देने का अनुरोध करती है, जहां लगभग नियमित रूप से हरिजनों का प्रतिदिन आखेट इसलिए किया जा रहा है कि वे सोने के आभूषण और साफ-सुथरे कपड़े पहनने तथा छाते रखने की कोशिश करने लगे हैं। मार-पीट की अनेक घटनाओं के अतिरिक्त, एक हरिजन बरात को लूटा गया और बरातियों को मारा-पीटा गया, आदमियों के कुर्ते वगैरह और औरतों की साड़ियां जबरदस्ती उतरवा ली गईं तथा 27 मई 1945 को वदनपिल्ली में एक हरिजन विद्यार्थी को निर्दयतापूर्वक पीटा गया। यह कांफ्रेंस यहां के प्रगतिशील थिया नवयुवकों के प्रति आभार प्रकट करती है, जिन्होंने सर्वश्री सी.एस.गोपालन, एम.एस. संकरनारायणन और पी.सी रामकृष्ण वाडियार के प्रबुद्ध नेतृत्व में हरिजनों की सहायता करने का अपूर्व प्रयास किया। लेकिन साथ ही स्थानीय अधिकारियों, विशेष रूप से पुलिस विभाग के प्रति उनकी घोर

लापरवाही के लिए गंभीर असंतोष भी व्यक्त करती है, जिसके कारण इन उत्पीड़ित हरिजनों को उनसे समय पर कोई भी सुरक्षा नहीं मिली।

यह कांफ्रेंस यह भी सूचित करती है कि उक्त दमन के लगभग हर मामले में पीड़ित हरिजनों को पुलिस से न तो कोई सुरक्षा ही मिली और न उससे कोई न्याय ही मिला। ऐसे कई उदाहरण हैं, जिनमें इन बेचारे हरिजनों को इन मामलों में गवाही देने के लिए आगे आने पर पुलिस द्वारा मारा-पीटा तक गया। इन घटनाओं के कारण मलाबार के हरिजनों की काफी दुर्दशा है, और अगर इन घटनाओं को ऐसे ही होने दिया गया, तब यह बहुत बड़ा संकट हो जाएगा, जिससे उन सभी प्रगतिशील हरिजनों की जान-माल को खतरा उत्पन्न हो सकता है, जो मलाबार में जात-पांत और स्वार्थी लोगों द्वारा आर्थिक शोषण की बेड़ियों को तोड़ने में लगे हुए हैं। यह कांफ्रेंस भारत सरकार, आनरेबुल डा. भीमराव अम्बेडकर और देश के अन्य प्रबुद्ध व्यक्तियों से यह हार्दिक अनुरोध करती है कि वे कृपया यह सुनिश्चित करें कि इस देश में हरिजनों को लोकतंत्रात्मक देश के स्वतंत्र नागरिक की भांति रहने दिया जाए, वे किसी के भी द्वारा सताए न जाएं और जब कभी औरों के द्वारा उनका दमन हो, तब प्रशासनिक तंत्र द्वारा उनको तुरंत सुरक्षा प्रदान की जाए।"

X

साधन-संपन्न होने पर भी अस्पृश्य को स्वादिष्ट भोजन नहीं करना चाहिए। अगर वह अपने जीवन में इस स्थिति से ऊपर उठना चाहता है, तब वह अपराध करता है। *'प्रताप'* के 26 फरवरी 1928 के अंक में निम्नलिखित घटना छपी है :

"जोधपुर रियासत में एक जगह है, चंदयाल। यहां आपको अभी भी ऐसे लोग मिलेंगे, जो यह सोचते हैं कि हरिजनों को हलवा खाने तक का अधिकार नहीं है। यहां अनुसूचित जातियों में एक जाति है, सरगारो। कुछ दिनों पहले वहां दो-तीन लड़कियों की शादी के मौके पर बरातियों के लिए हलवा बनवाया गया था। इस काम के लिए ठाकुर साहब के यहां से मैदा लाई गई। खाना- खाने के वक्त पर बराती खाना खाने

आए, तभी चंदयाला के कुंवर साहब ने सरगारो के लिए यह हुकुम कहलवा भेजा कि वे हलवा नहीं खा सकते हैं। इस पर कुछ दरबारी चापलूसों ने बातचीत कर यह तय किया कि कुंवर साहब को दो सौ रुपये नजर किए जाएं और तब हलवा खाने की इजाजत दे दी जाएगी। इस पर सरगारो लोग भड़क उठे और उन्होंने रुपया नजर करने से इंकार कर दिया।"

XI

हर सवर्ण हिंदू को गांव की प्रधान गलियों से बरात ले जाने का अधिकार है। इस बात का भी प्रमाण है कि जिस जाति को यह अधिकार मिला हुआ है, वह जाति आदर का पात्र समझी जाती है। अस्पृश्यों को इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं है। लेकिन वे अपनी बरातें गांव की प्रधान गलियों से निकालते हैं, और ऐसा कर वे इस अधिकार को प्राप्त करने के लिए अपना हक जताते रहते हैं, जिसका उद्देश्य समाज में अपनी सत्ता स्थापित करना होता है। उनके इस हक के बारे में हिंदुओं की प्रतिक्रिया क्या होती है, यह निम्नलिखित घटना से स्पष्ट है।

जुलाई 1927 के *'आदि हिंदू'* से:

"बंगलौर 27 मई 1927, प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट ने सात ब्राह्मणों पर सौ-सौ रुपये का जुर्माना किया। इन लोगों ने सर्वविदित पेरिया अस्पृश्य जाति के एक जुलूस पर, जब वह मालकोट रोड से गुजर रहा था, जहां केवल ब्राह्मण रहते हैं, मनमाने तरीके से हमला किया।"

पच्चीस अक्तूबर 1931 के *'प्रताप'* से:

"गढ़वाल जिले के हरगांव नामक एक गांव में ऊंची जाति के हिंदुओं ने जब यह सुना कि अस्पृश्यों की एक बरात आ रही है और दूल्हा पालकी में आ रहा है, तो वे बड़ी संख्या में इकट्ठा हो गए और उन्होंने बरात को घेर लिया तथा लोगों की जमकर पिटाई की। उन्होंने कड़कड़ाती ठंड में बरात को 24 घंटे तक भूखा रोके रखा। बरातियों के साथ अमानवीय व्यवहार किया गया और पुलिस के आने पर ही उन्हें इस कठिन परिस्थिति से मुक्ति दिलाई जा सकी।"

लाहौर के 3 नवंबर 1931 के *'सत्य संवाद'* से:

"एक बरात दिल्ली के पास से गुजर रही थी, जिसमें दूल्हा पालकी में बैठा हुआ था। इस पर ऊंची जाति के लोगों की भौंहें चढ़ गईं और उन्होंने इसे अपना अपमान समझा। उन्होंने दो दिन तक बरात को भूखा-प्यासा रोके रखा। आखिर में पुलिस आई और उसने इन अत्याचारियों को खदेड़ दिया तथा बरात को मुक्ति दिलाई।"

जून 1938 की *'जीवन'* नामक पत्रिका से :

1. "सेवड़ा गांव में गोला (पूर्व ठाकुर) लोगों ने जो कांग्रेसी होने का गर्व करते हैं, इस गांव के निहत्थे जाटवों को भालों और लाठियों से इस कदर बेरहमी से मारा-पीटा कि इनमें से पांच अस्पताल में घायल पड़े हैं, उनके हाथ-पांव और पसलियां तोड़ दी गई हैं। बंसी नाम के एक आदमी की खोपड़ी की हड्डियां टूट गई हैं और वह अब तक बेहोश पड़ा है। इस घटना का कारण यह था कि गांव में जब इन लोगों की बरात आई तो दूल्हे ने चमकीला मौर पहन रखा था। इससे ठाकुरों को मिर्चें लग गईं और उन्होंने बरात पर हमला करना चाहा। लेकिन वे इसलिए पीछे हट गए, क्योंकि बरातियों की संख्या ज्यादा थी। उन्हें अपनी जमींदारी में बरातियों को गालियां देकर ही संतोष कर लेना पड़ा।"

2. "आगरा जिले की तहसील फतेहगढ़ के गांव दोर्रा में मोती राम जाटव के यहां रामपुर गांव से बरात आई। दूल्हे ने चमकीला मौर पहन रखा था और बरात के साथ बैंड-बाजा चल रहा था, साथ ही आतिशबाजी भी हो रही थी। इस पर सवर्ण हिंदुओं ने एतराज किया कि बरात के साथ बाजा नहीं बज सकता और आतिशबाजी नहीं हो सकती। मोती राम ने इसका विरोध किया। उसने कहा कि हम भी उसी तरह के इंसान हैं, जैसे और लोग हैं । इस पर सवर्ण हिंदुओं ने मोती राम को पकड़ लिया और उसकी पिटाई की तथा बरात पर भी हमला किया। मोती राम की पगड़ी में पंद्रह रुपये और एक आना बंधा हुआ था, वह भी छीन लिया गया।"

3. "जब एक बरात प्रेम सिंह और दिलवर सिंह नाम के जाटवों के यहां गांव खुर्वा जा रही थी जो अलीगढ़ के सासनी थाने के अंतर्गत पड़ता है, तो इस बरात को सवर्ण हिंदुओं ने रास्ते में ही रोक दिया

और कहा कि जब तक तुम बाजा बजाना बंद नहीं करोगे, आगे नहीं बढ़ सकते। बरातियों को जान से मार देने और लूट लेने की धमकी दी गई। सवर्ण हिंदू जाटवों से पहले ही चिढ़े बैठे थे, क्योंकि उन्होंने बेगार करना बंद कर दिया था, ऊपर से उन्होंने गाजे-बाजे से बरात चढ़ाकर आग में घी डाल दिया। जब बरात ने बाजा बजाना नहीं रोका, तो हिंदुओं को इतना क्रोध आया कि उन्होंने बरात पर पथराव किया।"

चौबीस मार्च 1945 के *'हिंदुस्तान टाइम्स'* में भी इसी विषय पर एक समाचार छपा है :

"लैंड्स डाउन सब-डिवीजन में धनौरी गांव के शिल्पकार की एक बरात दूल्हे को पालकी में बिठाकर मालधंगु गांव में दुल्हन के घर जा रही थी। रास्ते में एक आदमी ने, जो अपने आपको मालधंगु गांव के पटवारी का एजेंट कहता था, बरातियों को यह सलाह दी कि वे सवर्ण हिंदुओं के लड़ाई-झगड़े से बचने के लिए दूसरे रास्ते से जाएं।

उसकी सलाह मानकर बरात जंगल के रास्ते चल दी। जब वे एक बियाबान जगह में पहुंचे, तब एक सीटी के बजते ही लगभग दो सौ सवर्ण हिंदू इकट्ठा हो गए। कंहा जाता है कि इन हिंदुओं ने बरातियों पर हमला बोल दिया और वे पालकी उठाकर ले गए।

शिल्पकार की बरात दो दिन बाद दुल्हन के घर पहुंची। कहा जाता है कि यह विवाह सब-डिवीजनल मजिस्ट्रेट तथा पुलिस की देख-रेख में हुआ। इस सिलसिले में पटवारी को निलंबित कर दिया गया है।"

लाहौर के *'सिविल एंड मिलीटरी गजट'* के 24 जून 1945 के अंक में निम्नलिखित रिपोर्ट छपी है :

"कल ग्वालियर रियासत के एक गांव में फरसा, लाठियां और कटारें लिए हुए राजपूतों का एक दल वहां के कुछ हरिजनों पर टूट पड़ा, जिसमें एक हरिजन की मृत्यु हो गई और चार गंभीर रूप से घायल हो गए।

राजपूतों और हरिजनों के बीच यह तनातनी तभी से चल रही थी, जब वहां के हरिजनों ने ग्वालियर दरबार के एक उत्तराधिकारी का जन्म होने के उपलक्ष्य में एक जुलूस निकाला। राजपूतों ने इसका विरोध

किया, क्योंकि उनका कहना था कि हरिजनों को ऐसे समारोह करने का कोई भी अधिकार नहीं है।

पिछले महीने महाराजा ने एक आदेश जारी किया है, जिसके अनुसार हरिजनों को समान अधिकार दे दिए गए हैं।"

जब कभी अस्पृश्य लोग हिंदुओं के रीति-रिवाज को अपनाने और कुछ ऊंचा उठने की कोशिश करते हैं, तब हिंदू उनके साथ कितना बर्बरतापूर्ण व्यवहार करते हैं, इस संबंध में उदाहरण स्वरूप *'बंबई समाचार'* के 4 नवंबर 1936 के अंक में यह घटना छपी है :

"मलाबार में उत्तपलम में एझवा जाति का शिवरामन नाम का एक 17 वर्षीय युवक एक सवर्ण हिंदू की दुकान से नमक खरीदने गया और उसने 'नमक' के लिए 'उप्पू' कहा, जो मलयालम भाषा का शब्द है। मलाबार में वहां के रीति-रिवाजों के अनुसार हिंदू ही नमक को 'उप्पू' कह सकते हैं। हरिजन होने के नाते उसे 'पुलिचाटन' शब्द का उच्चारण करना चाहिए था। इस पर ऊंची जाति के दुकानदार को बड़ा क्रोध आया और कहा जाता है कि उसने शिवरामन को इतना मारा कि वह परलोक सिधार गया।"

निम्नलिखित घटनाएं *'समता'* से संकलित की गई हैं :

1. "काठी (जिला पूना) में लोगों ने अस्पृश्यों को इसलिए सताना शुरू कर दिया है, क्योंकि वे अभिवादन करने के लिए 'राम-राम' और 'नमस्कार' कहने लग गए हैं। जो लोग यह नहीं जानते हैं, वे कृपया यह जान लें कि ऊंची जाति के लोग ही इस प्रकार अभिवादन कर सकते हैं। महार आदि जाति के लोगों को चाहिए कि वे अभिवादन करते समय 'जोहार' या 'पाय लागू' कहा करें।

2. तानू (जिला पूना) के अस्पृश्यों ने स्पृश्य जाति के हिंदू लोगों की तरह व्यवहार करने की कोशिश की। इस धृष्टता के परिणामस्वरूप अधिकांश को गांव छोड़ देना पड़ा है और कुछ बावडा चले गए हैं।

3. वालापुर (जिला शोलापुर) में महारों पर इसलिए अत्याचार किया जा रहा है, क्योंकि उन्होंने सवर्ण हिंदुओं को 'साहेब' और 'पाय लागू' कहने से मना कर दिया है।

4. जामाबाद (जिला शोलापुर) के अस्पृश्यों ने अपने स्पृश्य जाति के मालिकों के मनोरंजनार्थ नाचने और तमाशा करने से इंकार कर दिया था। इसलिए उनको मारा-पीटा गया, उनकी झोपड़ियां जला दी गईं या मिटा दी गईं और उन्हें गांव की सीमा से बाहर निकाल दिया गया।

5. बावडा (जिला पूना) में अस्पृश्यों ने अपनी बिरादरी वालों से कहा कि वे ऊंची जातियों की जूठन खाना छोड़ दें, मरे ढोर न उठाएं और अन्य गंदे काम न करें। गांव के मुखियाओं ने महारों से कहा कि उनका धर्म यही है कि वे अब तक जिस तरह खाना खाते व जो काम करते आए हैं, वही वे आगे भी करते रहें। जिन महारों ने अपना पुराना और सदियों से चला आ रहा 'धर्म' छोड़ दिया, उन्हें लोगों ने मारा–पीटा और गांव से बाहर निकाल देने की धमकी दी।"

XII

हिंदू अस्पृश्यों के साथ ऐसा व्यवहार करते हैं, जैसे अस्पृश्यों का जन्म हिंदुओं की सेवा करने के लिए हुआ है। चूंकि अस्पृश्यों का कर्तव्य सेवा करना है, इसलिए जब कभी कोई हिंदू किसी अस्पृश्य को सेवार्थ बुलाए तब वह उस हिंदू की सेवा करने से इंकार नहीं कर सकता। गांव में हिंदुओं की यह धारणा है कि वे अस्पृश्यों के श्रम का मनमाना उपयोग कर सकते हैं। इस व्यवस्था को बेगार या जबरन मजदूरी कहा जाता है। अगर अस्पृश्य इस व्यवस्था को स्वीकार करने से इंकार करता है, तब इसके गंभीर परिणाम होते हैं, जो निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा।

दिसंबर 1938 के *'जीवन'* में निम्नलिखित घटनाएं छपी हैं :

"उनतीस नवंबर 1938 को मथुरा जिले के कोहाना गांव के जाटवों को वहां के जाटों और ब्राह्मणों ने बुरी तरह सताया, क्योंकि उन्होंने बेगार करने से इंकार कर दिया।

इस गांव के ठाकुर और ब्राह्मण जाटवों से बेगार कराते थे और उन्हें परेशान करते थे। जाटवों ने बेगार न करने का फैसला किया और केवल वही काम करने के लिए कहा, जिसकी उन्हें मजदूरी मिलेगी। हाल ही में गांव में एक बैल मर गया। ठाकुर और सवर्ण जाति के दूसरे हिंदुओं ने जाटवों पर दबाव डाला कि वे उसे उठाएं, लेकिन

उन्होंने कहा कि वे उसे तभी उठाएंगे, जब उन्हें इसकी मजदूरी दी जाएगी। इससे हिंदुओं का क्रोध भड़क उठा। उन्होंने एक भंगी से कहा कि वह जाटवों के कुएं में पाखाना डाल दे, और जाटवों से कहा कि वे शौच आदि के लिए उनके खेतों में नहीं जा सकते। उन्होंने यह तय कर लिया कि वे उन्हें हर तरह से सताएंगे।

जब जाटवों ने भंगी को अपने कुएं में पाखाना डालने से रोका तो उसने जाटों, ठाकुरों और ब्राह्मणों को बुला लिया, जो हमला करने के लिए पहले से ही तैयार बैठे थे। वे लाठी लेकर उन पर टूट पड़े और उनको खूब मारा-पीटा और उन्होंने उनके घरों को आग भी लगा दी। इससे छह घर जलकर राख हो गए और अठारह जाटव गंभीर रूप से घायल हो गए। हमलावर उनके घर की काफी संपत्ति लूट कर ले गए।"

इसी पत्रिका के फरवरी 1939 के अंक में एक और खबर छपी :

"आगरा जिले की किरावली तहसील में अभयपुरा गांव के जाट वहां के गरीब अनुसूचित जाति के लोगों से बेगार कराते थे और मजदूरी मांगने पर उन्हें पीट देते थे। करीब तीन महीने पहले सुखी नाम के एक जाट ने सुखराम, घनश्याम और हुक्मा नाम के जाटवों से जबरदस्ती काम कराया और उन्हें मजदूरी नहीं दी। ये लोग इनकी जबरदस्तियों से इतने परेशान हुए कि उन्होंने गांव ही छोड़ दिया और दूसरे गांव में जाकर अपने रिश्तेदारों के यहां रहने लगे। इधर जाट उनके बर्तन और घर का दूसरा सामान उठाकर ले गए और उसे अनाज रखने वाली कोठरी में ले जाकर छिपा दिया।"

तीन जून 1945 के *'सावधान'* में एक घटना का ब्यौरा इस प्रकार छपा है :

"अनुसूचित जाति की महाराजी कोरी नाम की एक औरत ने श्री महबूब आलम, सिटी मजिस्ट्रेट की अदालत में धारा 376, 341 और 354-क के अधीन जुबी पुलिस चौकी के ब्रह्म सिंह, सुलेमान और आफ्ताब नाम के तीन सिपाहियों के विरुद्ध शिकायत दर्ज कराई है। शिकायत में कहा गया है कि 2 मई 1945 की रात को लगभग साढे दस बजे पुलिस के ये तीन सिपाही, सुमेर, कहार, कल्लू बीबी का बेटा और कुछ और

लोगों के साथ आए और उसके घर की तलाशी ली तथा उसको अपने साथ थाने ले गए और उसे सारी रात थाने में रखा। सवेरे ये सिपाही उसे एक छोटी-सी कोठरी में ले गए। उसे अंदर से बंद कर दिया और इन तीनों ने एक-एक करके उसकी इज्जत लूट ली। उसके बाद उसे फिर एक दूसरी छोटी कोठरी में ले जाया गया, जहां उसके गुप्तांगों में लकड़ी का कोयला, कागज के टुकड़े भर दिए और अपना लिंग उसके मुंह में डाल दिया, उसके कपड़े फाड़ डाले गए जो खून से लथपथ हो गए थे। अगले दिन उसकी मां से दिन-भर जबरदस्ती बेगार कराया गया और उन्हें रात के दस बजे छोड़ दिया गया।

महाराजी की देवरानी मुरला ने भी ऐसी ही शिकायत दर्ज कराई है। उसका कहना है कि वही सिपाही उसी रात उसे पुलिस चौकी ले गए और फिर उसे वापस भगा दिया। रास्ते में उसे कुमार टोला के पास मदारी तेली ने पकड़ लिया। वह उसे एक खंडहर में ले गया और वहां उसने उसकी इज्जत को लूटा। सर्वश्री मुन्नालाल, भूषण और राम भरोसे वकील मुरला की ओर से वकालत कर रहे हैं।"

पंद्रह अप्रैल 1945 के *'हिंदुस्तान टाइम्स'* में यह खबर छपी है :

"कहा जाता है कि बेगार करने से इंकार करने पर अंबाला जिले के दुखेड़ी गांव में राजपूतों ने बहुत सारे हरिजनों को मारा-पीटा। इनमें एक औरत और एक आदमी के मरने की खबर है। ये दोनों ही हरिजन थे। यह भी कहा जाता है कि हरिजनों के बहुत से मकानों को आग लगा दी गई है। कमिश्नर और पुलिस उप-महानिरीक्षक को तार भेजकर अनुरोध किया गया कि मामले की जांच की जाए।"

इन घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदू, अस्पृश्यों को दबाकर रखने और स्वयं निश्चित की गई व्यवस्था को लागू करने में हिंसा का सहारा लेने, यहां तक कि हत्या, करने से भी नहीं हिचकते हैं।

श्री लाजपत राय ने अपनी पुस्तक *'अनहैप्पी इंडिया'* में मिस मेयो के आरोपों का जवाब देने की कोशिश की है, जो उन्होंने अपनी पुस्तक *'मदर इंडिया'* में लगाए हैं। श्री लाजपत राय ने अमरीका में कू क्लक्स क्लैन नामक संगठन के सदस्यों द्वारा नीग्रों लोगों की बेरहमी से की गई हत्याओं और उन पर किए गए अत्याचारों का विस्तृत और सजीव वर्णन किया है।

वे लिखते हैं :

"लेकिन मैं उनसे (मिस मेयो से) यह पूछना चाहता हूं कि पेरिया जाति के प्रति ब्राह्मणों का दृष्टिकोण क्या उस दृष्टिकोण से ज्यादा अन्यायपूर्ण और निर्ममतापूर्ण है, जो अमरीका में कू क्लक्स क्लैन के लोगों का नीग्रो लोगों के प्रति रहा हैं?"

"श्वेतों ने अश्वेतों पर जो अत्याचार किए, उनकी तुलना में भारत में जाति के नाम पर जो कुछ है, क्या वह अत्याचार है?"

अगर लाला लाजपत राय ने इन अत्याचारों का पता लगाने की कोशिश की होती तो उन्हें यह जरूर मालूम हो जाता कि अस्पृश्यों पर हिंदुओं की यातनाएं और अत्याचार नीग्रो लोगों पर अमरीकनों की यातनाओं और अत्याचारों से किसी प्रकार भी कम नहीं हैं। यदि इन यातनाओं की संसार को उतनी जानकारी नहीं है, जितनी कि नीग्रो लोगों के अत्याचारों की है तो इसका कारण यह है कि कोई ऐसा हिंदू लेखक नहीं है, जिसने इस सच्चाई को छिपाने की सदा कोशिश नहीं की है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि हिंदुओं की स्थापित व्यवस्था और उसके तहत बने नियमों की यह कहानी अब पुरानी पड़ चुकी है। यह एक गलत बात है। यह स्थापित व्यवस्था और उसके तहत बने नियम आज भी बरकरार हैं, जैसे कि वे उस समय थे, जब उनकी रचना की गई थी। इसकी पुष्टि अस्पृश्यों की दशा के बारे में *'हिंदुस्तान टाइम्स'* में छपे निम्नलिखित दो वक्तव्यों से हो जाएगी। पहला वक्तव्य उदयपुर के विद्या भवन नामक स्कूल के हैडमास्टर केसरीलालजी बोर्डिया का है, जो उक्त पत्र के 8 मार्च 1945 के अंक में छपा है। उसमें कहा गया है :

"मेवाड़ में हरिजनों पर बहुत सारी बंदिशें लगी हुई हैं। वे मंदिरों में नहीं घुस सकते और न ही सार्वजनिक कुओं से पानी ले सकते हैं। त्यौहारों में और जुलूस में सवर्ण हिंदुओं के साथ नहीं चल सकते। वे अपनी रथयात्रा या झांकियां उन रास्तों से या उन दिनों नहीं निकालेंगे जब हिंदू निकालते हैं, वे गांव से किसी सवारी पर होकर नहीं गुजर सकते।

सोने के ही नहीं, बल्कि अगर वे चांदी के जेवर भी पहन लेते हैं

तो सवर्ण हिंदू एतराज करते हैं। नतीजा यह है कि उन्हें कांसे या पीतल के जेवर पहनने पड़ते हैं। चूंकि यह सदियों से चला आ रहा है, इसलिए वे शादी की दावत में घी और गुड़ का इस्तेमाल नहीं कर सकते।

स्कूलों और अन्य सार्वजनिक स्थानों पर हरिजन बच्चे सवर्ण हिंदुओं के बच्चों के साथ नहीं बैठ सकते। जिस दिन स्कूल का निरीक्षण होता है, उस दिन उन्हें स्कूल न आने को कहा जाता है, ताकि इंस्पेक्टर को कोई असुविधा न हो।

यहां की सरकार को एक ज्ञापन दिया गया है, जिसमें यह अनुरोध किया गया है कि अगर वह इन प्रतिबंधों के बारे मे अपनी असहमति स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दे, तब इससे उन गैर-सरकारी संस्थाओं के हाथ मजबूत होंगे, जो अस्पृश्यता के खिलाफ संघर्ष कर रही हैं।

दूसरा वक्तव्य हरिजन सेवक संघ के अध्यक्ष का है, जो मेवाड़ में अस्पृश्यों की दशा के बारे में है। इसमें कहा गया है :

मेवाड़ हरिजन सेवक संघ ने मेवाड़ सरकार को उसका ध्यान मेवाड़ राज्य में हरिजनों पर प्रतिबंधों और उनके फलस्वरूप उनकी कठिनाइयों की ओर आकृष्ट करते हुए एक ज्ञापन दिया है। इस ज्ञापन में यह बताया गया है कि सवर्ण हिंदुओं की कट्टरता और जातीय विद्वेष के कारण हरिजनों के नागरिक अधिकार किस प्रकार समाप्त किए गए हैं।

मैं यहां कुछ अन्यायपूर्ण रीति-रिवाजों का उल्लेख कर रहा हूं, जो आज भी राज्य में प्रचलित हैं और जिन्हें दूर करने के लिए राज्य की ओर से कोई कदम नहीं उठाए गए हैं। ये रीति-रिवाज निम्नलिखित हैं–

1. हरिजन अपनी मर्जी के कपड़े नहीं पहन सकते। उन्हें सदियों पुराने ढंग के कपड़े पहनने होते हैं। कपड़े पहनने के बारे में उनकी पसंद का कोई महत्व नहीं।

2. शादियों की दावतों में क्या खाना बने, वे यह भी तय नहीं कर सकते। रुपया-पैसा खर्च करने के बावजूद वे अच्छा सामान नहीं बनवा सकते।

3. वे गांव में किसी सवारी पर होकर चढ़कर नहीं चल सकते।

4. वे सार्वजनिक वाहनों में नहीं चल सकते।

5. वे किसी पर्व के अवसर पर अपने देवी-देवताओं का जुलूस निर्दिष्ट मार्गों को छोड़कर अन्य मार्गों से नहीं निकाल सकते।

6. वे कुओं पर नहीं चढ़ सकते और न मंदिरों में ही जा सकते हैं।" लेखक आगे कहते हैं :

"मैं तीन साल पहले ठक्कर बापा के साथ पूरे राज्य में घूमा था और इस समय मैंने जो कुछ वहां देखा, उसके बारे में मैंने सरकार तथा जनता को अपनी रिपोर्ट दी थी। मैंने सुधार के लिए कुछ उपाय भी सुझाए थे। मैं इस ज्ञापन और दूसरी रिपोर्ट को देखकर जो मुझे भेजी गई हैं, इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि पिछले कुछ वर्षों में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ है और स्थिति लगभग वैसी ही बनी हुई है।

यह बड़े ही दुख की बात है कि इतने समय बाद भी हम कुछ भी नहीं बदल सके हैं। नतीजा यह है कि सदियों पुराने हमारे रीति-रिवाज और धारणाएं ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। इस विकृति ने हमें अंधा बना रखा है। हम अत्याचार और अन्याय को नहीं देख पाते, और न उस क्षति का अनुभव कर पाते हैं, जिसने हमें खोखला बना दिया है। अगर साधारण जनता की आंखें उसके अज्ञान के कारण नहीं खुलतीं, तब इस सदी की जागरूक सरकारों को अपने उत्तरदायित्व के प्रति अधिक जागरूक होना पड़ेगा।"

इन कथनों की तारीखें महत्वपूर्ण हैं। ये वर्ष 1945 की हैं। अब यह कोई नहीं कह सकता कि यह हिंदू समाज-व्यवस्था पुराने जमाने की बात है। इस बात से कि यह तो भारत के राज्यों का विवरण है, यह आशय नहीं लिया जाना चाहिए कि ब्रिटिश भारत में स्थापित व्यवस्था समाप्त हो चुकी है। यह व्यवस्था ब्रिटिश भारत में आज भी मान्य है, इसे सिद्ध करने के लिए हम अगले अध्यायों में और भी प्रमाण देंगे।

'टाइम्स आफ इंडिया' के 31 अगस्त 1950 के अंक में निम्नलिखित समाचार छपा है :

"ग्रामीण क्षेत्रों में निचली जातियों की सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था कैसी है, इस बारे में पर्याप्त प्रकाश उन तथ्यों से पड़ता है, जो

इलाहाबाद उच्च न्यायालय में एक अपील की सुनवाई के दौरान बयान किए गए, जो निम्नलिखित हैं–

एटा जिले के सारस गांव में चिरंजी नाम का एक धोबी पिछले विश्व युद्ध में फौज में भर्ती हो गया और चार-पांच साल तक अपने गांव से बाहर रहा। जब वह लड़ाई से अपने घर लौटा तो उसने लोगों के कपड़े धोने बंद कर दिए और गांव में फौज की वर्दी पहनकर घूमा करता था। इससे और इस बात से भी कि उसने सारस के राजा के जो उस गांव का एकछत्र जमींदार था, अहलकारों तक के कपड़े धोने बंद कर दिए, गांव वालों को बड़ा क्रोध आया।

जब 31 दिसंबर 1947 को वह धोबी अपने खुद के कपड़े धो रहा था, राजा के अहलकार समेत गांव के चार आदमी उसके पास आए और उससे अपने कपड़े धोने के लिए कहा। ऐसा करने से उसने इंकार कर दिया। गांव वाले चिरंजी को पकड़कर राजा के पास ले गए और वहां उसे पीटने लगे। उसकी मां और मौसी उसे बचाने के लिए वहां पहुंच गईं। लेकिन उन्हें भी मारा-पीटा गया।

ये लोग चिरंजी को राम सिंह की देखरेख में छोड़कर चले आए। कहा जाता है कि चिरंजी ने राम सिंह को अकेला पाकर तमाचा मारा और वह वहां से भाग आया। तब राम सिंह ने राजा के दूसरे और अहलकारों के साथ चिरंजी का उसके घर तक पीछा किया, जहां वह जाकर छिप गया था। गांव वालों ने उससे दरवाजा खोलने के लिए कहा। जब कोई जवाब नहीं मिला, तब उसका घर जला दिया गया। इससे बहुत-सी और झोपड़ियां भी जलकर राख हो गईं।

धोबी ने पुलिस से शिकायत की, लेकिन पुलिस ने इस पर यकीन नहीं किया, और कहा कि झूठी रिपोर्ट लिखवाने के लिए उसके खिलाफ मुकदमा चलाया जाएगा। तब उसने मजिस्ट्रेट की अदालत में अर्जी दी। अभियुक्तों को दोषी पाया गया और उन्हें तीन-तीन साल की कैद की सजा सुनाई गई। मजिस्ट्रेट ने जो सजा दी, उच्च न्यायालय ने उसे बहाल कर दिया।

'इंडियन न्यूज क्रोनिकल' के 31 अगस्त 1950 के अंक में निम्नलिखित समाचार छपा है:

पेप्सू के हरिजनों के साथ अमानवीय व्यवहार : सरकार को डिप्रेस्ड क्लासेज लीग द्वारा ज्ञापन।

पटियाला, अगस्त 1950, पेप्सू प्राविंशियल डिप्रेस्ड क्लासेज लीग ने राज्य सरकार को एक ज्ञापन दिया है, जिसमें कहा गया है कि इस राज्य में पिछड़ी जाति के लोगों की बिना बात मार-पीट, उनकी स्त्रियों के साथ अभद्र आचरण, हरिजनों की उनकी जमीनों से जबरदस्ती बेदखली, हरिजनों और उनके मवेशियों को उनके कच्चे घरों में घेरकर बिना किसी कसूर के कई-कई दिनों तक बंद रखना आदि उन लोगों की लंबी दर्दभरी दास्तान हैं, जिनकी आहों की लपटें उसी अनुपात में ऊंची उठ रही हैं, जिस अनुपात में यह कहा जाता है कि इस राज्य में अपराधों की लपटें बुझती जा रही हैं।

पेप्सू में पुलिस की जोरदार कार्रवाई से अपराधों की संख्या तो घट रही है, लेकिन पिछड़ी जाति के लोगों को गैर-सामाजिक तत्वों के विरुद्ध संरक्षण न दिया जाना कम दुख की बात नहीं है। पिछड़ी जातियों के लोग अपनी आर्थिक तंगी के कारण संबंधित अधिकारियों तक अपनी रोजाना की कठिनाइयों का दुखड़ा नहीं पहुंचा सकते कि वे उनकी रक्षा के लिए तुरंत प्रबंध कर सकें और उन्हें जबरन अपने भाग्य पर भरोसा कर चुप हो बैठ जाना पड़ता है। इससे अत्याचार करने वालों को जहां प्रोत्साहन मिलता है, वहीं यहां के लोगों में मौजूदा हालत को लेकर निरंतर असंतोष बढ़ रहा है, जिसका फायदा स्वार्थी लोग उठा रहे हैं।

पेप्सू में हरिजनों के साथ कितना अधिक अमानवीय व्यवहार हो रहा है, इस बारे में 'प्राविंशियल डिप्रेस्ड क्लासेज लीग' ने एक और घटना का उल्लेख किया है। ऊंची जाति के एक जमींदार के कुएं से पीने के लिए पानी लेने पर बरनाला जिले के कातु गांव के चांद सिंह नामक हरिजन को उसका मुंह काला कर उसे गधे पर बिठाकर गांव-भर में घुमाया गया। 'स्वतंत्र भारत की बदली हुई परिस्थितियों में पेप्सू में अनुसूचित जाति के लोगों को यहां की ऊंची जाति के लोगों द्वारा किए जा रहे अनोखे दमन के कारण दिन-प्रतिदिन कठिनाइयों का असहाय हो सामना करना पड़ रहा है।"

'प्राविंशियल डिप्रेस्ड क्लासेज लीग' ने हरिजनों की शिकायतों पर

मौके पर जाकर छानबीन करने और उन्हें अन्य सुविधाएं देने के लिए जिला और केंद्रीय स्तर पर व्यापक अधिकार-प्राप्त विशेष आयोगों के गठन का सुझाव दिया है।

अंत में इस लीग ने राज्य सरकार से अनुरोध किया है कि जब तक इस संबंध में कोई केंद्रीय कानून नहीं बन जाता है, तब तक फिलहाल यह व्यवस्था की जाए कि गांवों में हरिजनों को बराबरी के अधिकार प्राप्त हों, जिससे स्थिति और ज्यादा बिगड़ने न पाए।

□□

7

अराजकता कैसे जायज है?

अब तक जो कुछ कहा गया है, उससे दो बातें अवश्य स्पष्ट हो गई होंगी, जिन्हें ध्यान में रखा जाना चाहिए। पहली, स्पृश्यों और अस्पृश्यों के बीच अकाट्य भेद और दूसरी, इन दोनों के बीच एक-दूसरे के प्रति गंभीर रूप से प्रतिकूल होने की भावना।

हर गांव में दो हिस्से होते हैं, स्पृश्यों के घर और अस्पृश्यों के घर। भौगोलिक दृष्टि से ये बिल्कुल अलग होते हैं। दोनों के बीच में काफी दूरी होती है। किसी भी दशा में दोनों प्रकार के घर अगल-बगल नहीं होते और न ये पास ही होते हैं। अस्पृश्यों के घर उनकी जाति के नाम से जाने जाते हैं, जैसे महारवाड़ा मांगवाड़ा, चमरोटी, खाटिकाना, आदि। राजस्व खातों और डाकखानों में अस्पृश्यों के घर कानूनन गांव का हिस्सा माने जाते हैं, लेकिन हकीकत में गांव से अलग होते हैं। गांव में रहने वाला हिंदू जब गांव का जिक्र करता है तो उसका आशय उसमें सवर्ण हिंदू निवासियों को शामिल करना होता है, जो स्थानीय रूप से वहां रहते हैं। इसी तरह जब कोई अस्पृश्य गांव की बात करता है तो उसका आशय उस गांव में से अस्पृश्यों और उनके घरों से रहित गांव से होता है। यह जरूरी नहीं कि इन दोनों को मिलाकर ही गांव बने। इस तरह हर गांव में स्पृश्य और अस्पृश्य नाम से दो अलग-अलग समूह होते हैं। दोनों के बीच कोई समानता नहीं होती। यह पहली बात है, जो ध्यान में रखी जानी चाहिए।

इस निबंध के मूल अंग्रेजी पाठ की प्रति श्री एस. एस. रेगे से प्राप्त हुई है। चूंकि इसका शीर्षक पिछले अध्याय के समनुरूप है और इसकी विषय-वस्तु उक्त अध्याय के क्रम में जान पड़ती है, इसलिए इसे यहां संकलित किया गया है—संपादक

गांव में इस प्रकार के विभाजन के बारे में दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि ये समूह स्वयं में अलग-अलग एक इकाई होते हैं और कोई भी एक-दूसरे को अपने में शामिल नहीं करता। यह ठीक ही कहा गया है कि अमरीका या यूरोप में रहने वाला व्यक्ति विभिन्न प्रकार के समूहों का होता है और वह इनमें से अधिकांश का सदस्य बनता है। वह निश्चय ही किसी एक परिवार में जन्म लेता है, लेकिन वह उस परिवार में सारी जिंदगी रहने के बजाय, जब तक चाहे तभी तक उस परिवार में रहता है। वह कोई भी व्यवसाय या कोई भी निवास स्थान चुन सकता है, किसी के भी साथ विवाह कर सकता है, किसी भी राजनीतिक दल में शामिल हो सकता है और वह किसी दूसरे के द्वारा किए गए कार्य के बजाय केवल अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायी होता है। वह पूर्ण अर्थ में एक व्यक्ति होता है, क्योंकि उसके सभी संबंध और सभी कार्य उसी के द्वारा अपने लिए निर्धारित होते हैं। लेकिन स्पृश्य या अस्पृश्य व्यक्ति किसी भी अर्थ में 'व्यक्ति' नहीं होता क्योंकि उसके सभी या लगभग सभी संबंध तभी निश्चित हो जाते हैं, जब उसका जन्म किसी वर्ग विशेष में हो जाता है। उसका व्यवसाय, उसका निवास, उसके देवी-देवता, उसकी राजनीति आदि सभी कुछ उस वर्ग द्वारा उसके लिए निश्चित हो जाते हैं, जिसमें उसका जन्म हो गया होता है। ये स्पृश्य और अस्पृश्य व्यक्ति एक-दूसरे से जब मिलते हैं तो इस तरह नहीं मिलते, जैसे एक इंसान दूसरे इंसान से मिल रहा होता है, बल्कि वे ऐसे मिलते हैं, जैसे एक समुदाय का व्यक्ति दूसरे समुदाय से या दो विभिन्न राष्ट्रों के व्यक्ति आपस में मिल रहे हों।

इस तथ्य का गांवों में स्पृश्यों और अस्पृश्यों के आपसी संबंधों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यह संबंध उन्हीं संबंधों के सदृश होता है, जैसे आदिम-काल में दो विभिन्न कबीलों के बीच होते थे। आदिम समाज में एक कबीले के व्यक्ति यह दावा करते थे कि वही हर चीज के अधिकारी हैं और बाहरी व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता। एक मेहमान की तरह बाहरी व्यक्ति के ऊपर कृपा तो की जा सकती है, लेकिन वह अपने कबीले के अलावा किसी दूसरे कबीले में न्याय की मांग नहीं कर सकता। एक कबीले के साथ दूसरे कबीले के संबंध युद्ध या मैत्री के संबंध समझे जाते थे, न कि किसी कानून के संबंध। और जो व्यक्ति किसी कबीले का नहीं होता था, वह 'बाहरी' समझा जाता था– असलियत में और नाम से भी।

इसलिए बाहरी व्यक्तियों के विरुद्ध कानून की अनदेखी कर व्यवहार करना कानून में जायज था। चूंकि अस्पृश्य व्यक्ति स्पृश्यों के वर्ग का सदस्य नहीं है, इसलिए वह बाहरी व्यक्ति है। उससे उनका कोई संबंध नहीं है। वह कानून के लाभ से बहिष्कृत व्यक्ति है। वह न्याय के लिए कोई दावा नहीं कर सकता है। वह किसी प्रकार के अधिकार की मांग नहीं कर सकता, जिसे मानना प्रत्येक स्पृश्य व्यक्ति के लिए अनिवार्य है।

तीसरी बात जो ध्यान में रखनी है, वह यह है कि स्पृश्यों और अस्पृश्यों के बीच आपसी संबंध निश्चित होते हैं। यह हैसियत का सवाल बन गया है। अस्पृश्यों को निश्चित रूप से स्पृश्यों के मुकाबले हीन स्थिति में रखा गया है। यह हीनता सामाजिक आचार-विचार संहिता में वर्णित है, जो अस्पृश्यों को अनिवार्यतः स्वीकार करनी चाहिए। और आचार-विचार संहिता कैसी है, वह बताया जा चुका है। अस्पृश्य इस संहिता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। यह मानने के लिए तैयार नहीं कि जिसके पास लाठी भैंस भी उसी की है। अस्पृश्य चाहते हैं कि अस्पृश्यों के साथ उनके संबंध किसी सहमति पर आधारित हों। लेकिन स्पृश्य चाहते हैं कि अस्पृश्य समाज में अपनी हैसियत के नियमों के अनुसार जीवन-यापन करें और उससे ऊपर न उठें। इस तरह गांव के दो वर्ग, अर्थात स्पृश्य और अस्पृश्य उस व्यवस्था को पुनः व्यवस्थित करने के लिए संघर्षरत् हैं, जिसे स्पृश्य समझते हैं कि यह हमेशा के लिए निर्णीत हो चुकी है। यह संघर्ष इस प्रश्न को लेकर है कि इस संबंध का आधार क्या हो? क्या उसका आधार कोई समझौता हो या उसका आधार हैसियत को माना जाए।

इससे कुछ बड़े रोचक प्रश्न पैदा होते हैं। अस्पृश्यों को निम्नतम जातियों का और निम्न दर्जा क्यों दिया गया? हिंदुओं में उनके प्रति इतना विरोध और अनादर का भाव कैसे पैदा हो गया? हिंदू लोग अस्पृश्यों का दमन करने में मनमाना आचरण क्यों करते हैं, मानो उनका यह आचरण कानून सम्मत हो।

इन सवालों का सटीक उत्तर पाने के लिए हमें हिंदुओं के विधि-विधान पर विचार करना होगा। हिंदू विधान के नियमों की पर्याप्त जानकारी के बिना इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर मिलना असंभव है। हमें अपने प्रयोजन के लिए समस्त हिंदू कानून और उसकी प्रत्येक शाखा को ध्यान में रखना आवश्यक नहीं। हिंदू कानून की उस शाखा का ज्ञान होना ही

यथेष्ट है, जिसे वैयक्तिक विधि या जिसे अगर गैर-तकनीकी भाषा में कहा जाए तो हम हिंदू कानून का वह भाग कहते हैं, जो हैसियत, अधिकार, कर्तव्य या सामर्थ्य में अंतर से संबंधित है।

इसलिए यहां हिंदू कानून के नियमों की तालिका प्रस्तुत करने का विचार है, जो वैयक्तिक कानून से संबंधित है। ये नियम मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, विष्णु, कात्यायन आदि की स्मृतियों आदि से संकलित किए गए हैं। ये कुछ ऐसे प्रमुख विधि-निर्माता हैं, जिन्हें हिंदू विधि के निर्माण के क्षेत्र में प्रमाण स्वरूप मानते हैं। इन नियमों का यथावत् उल्लेख चाहे कितना ही रोचक क्यों न हो, लेकिन इससे उस व्यक्ति को कुछ भी सहायता नहीं मिलेगी जो इनको हिंदुओं के वैयक्तिक कानून की बुनियादी जानकारी के लिए उलटता-पुलटता है। इस प्रयोजन के लिए इनको उद्धृत करना यथेष्ट नहीं है। स्पष्टतः कुछ क्रम निश्चित करना आवश्यक है, इसलिए उन्हें कुछ शीर्षकों में बांटा गया है। यह सारी सामग्री संक्षिप्त कर दी गई है, जो खंडों में विभक्त है और प्रत्येक खंड विशिष्ट विषय के अनुसार है।

विभिन्न वर्ग : उनकी उत्पत्ति और कर्म

1. यह ब्रह्मांड तम पुंज के रूप में, अज्ञात, लक्षणहीन प्रमाणादि तर्कों से परे, अज्ञेय, पूर्ण निमज्जित था, जैसे *प्रगाढ़* निद्रा में हो– *(मनु., 1.5.)*

2. तब स्वयंभू जो अगम थे, किंतु आकाशादि महाभूतों को प्रकट करते हुए गोचर रूप में दुर्दम्य सृजनशक्ति सहित हो, अंधकार को दूर करते हुए प्रकट हुए– *(वही, 1.6.)*

3. तीनों लोकों की संवृद्धि के लिए ब्रह्मा ने अपने मुख, बाहु, उरु और चरणों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की– *(वही, 1.31.)*

4. महातेजस्वी ब्रह्मा ने संपूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अलग-अलग (कर्म) व्यवसाय निर्धारित किए– *(वही, 1.87.)*

5. ब्राह्मणों के लिए उन्होंने (वेदों को) पढ़ना और पढ़ाना, अपने तथा दूसरों के हित के लिए यज्ञ करना और कराना, दान लेना और दान देना, कर्म निर्धारित किए– *(वही, 1.88.)*

6. उन्होंने प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदों का अध्ययन करना, विषयों में आसक्ति न रखना, यह क्षत्रियों के कर्तव्य बताए हैं– *(मनु., 1.89.)*

7. उन्होंने पशुपालन, दान देना, यज्ञ करना, (वेद) पढ़ना, व्यापार करना, ऋण देना और खेती करना ये वैश्यों के कर्तव्य बताए– *(वही, 1.90.)*

8. ब्रह्मा ने शूद्र के लिए एक ही कर्तव्य निर्धारित किया अर्थात इन अन्य तीन वर्णों की अत्यंत विनम्रतापूर्वक सेवा करना– *(वही, 1.91.)*

9. विद्यार्थी, प्रशिक्षणार्थी, वेतन देकर नियुक्त सेवक और चौथे अधिकारी व्यक्ति, इन सभी को श्रमिक समझना चाहिए। जो किसी के घर में जन्म प्राप्त करते हैं, वे दास होते हैं– *(नारद, 5.3.)*

10. ऋषियों ने कानून के आधार पर पांच वर्ग के सेवक बताए हैं। इनमें चार वर्ग के सेवक वे हैं जिनका ऊपर वर्णन किया गया है। पाचवें वर्ग में दास आते है, जिनके पंद्रह प्रकार हैं– *(वही, 5.2.)*

11. जो (अपने स्वामी के) घर में उत्पन्न हुआ है, जो खरीदा गया है, जो उपहार में मिला है, जो विरासत में मिला है, जिसका अकाल के समय भरण-पोषण किया गया है, जो उसके वैध स्वामी द्वारा गिरवी के रूप में रखा गया है– *(वही, 5.26.)*

12. जिसको भारी ऋण चुकाकर मुक्त कराया गया है, जो युद्धबंदी है, जो दांव में जीता गया है, जो तपस्वी जीवन त्याग कर यह घोषित करता है, 'मैं आपका हू', जो निश्चित अवधि के लिए दास है– *(वही, 5.27.)*

13. जो जीविकोपार्जन के उद्देश्य से दास बनता है, जो दास स्त्री के साथ संबंध होने के कारण दास हो गया और जो स्वयं को बेच देता है। कानून के आधार पर ये पंद्रह प्रकार के दास हैं– *(वही, 5.28.)*

14. इनमें से प्रथम चार श्रेणी के दास स्वामी की सहमति के बिना मुक्त नहीं किए जा सकते। उनका दासत्व वंशानुगत है– *(वही, 5.29.)*

15. ऋषियों का कथन है कि ये सभी एक जैसे पराधीन होते हैं, परंतु इनका स्तर और इनकी आय इनकी विशिष्ट जाति और व्यवसाय पर निर्भर करती है– *(वही, 5.4.)*

विधि के समक्ष समानता :–

1. जब दो व्यक्ति परस्पर अपशब्द कहें तब यदि वे एक ही जाति के हों तो उन्हें समान दंड दिया जाए। यदि एक की जाति दूसरे से हीन है तो छोटी जाति वाले को दुगुना दंड दिया जाए और ऊंची जाति वाले को सामान्य दंड का आधा– *(बृहस्पति, 20.5.)*

2. जाति और गुण में समान व्यक्ति एक-दूसरे को अपशब्द कहें तो कानून के अनुसार उन्हें साढ़े तेरह पण का अर्थदंड दिया जाए– *(वही, 20.6.)*

3. यदि ब्राह्मण को क्षत्रिय अपशब्द कहता है तो उस पर पचास पण का जुर्माना किया जाए, वैश्य को गाली देने पर पच्चीस पण और शूद्र को गाली देने पर साढ़े बारह पण अर्थदंड दिया जाए– *(वही, 20.7.)*

4. यह दंड एक गुणशील शूद्र को (गाली) दिए जाने के लिए है, जिसका कोई दोष न हो। ब्राह्मण द्वारा गुणहीन (शूद्र) को अपशब्द कहने पर कोई अपराध नहीं बनता– *(वही, 20.8.)*

5. यदि कोई वैश्य क्षत्रिय को अपशब्द कहता है तो उस पर एक सौ पण जुर्माना किया जाए। यदि क्षत्रिय वैश्य को अपशब्द कहे तो उसे आधा धन अर्थदंड के रूप में देना होगा– *(वही, 20.9.)*

6. क्षत्रिय के संबंध में, यदि वह किसी शूद्र को अपशब्द कहता है तो उस (क्षत्रिय) पर बीस पण अर्थदंड किया जाए। वैश्य के संबंध में, यदि वह किसी शूद्र को गाली देता है तब कानून-विदों के मत में उस पर दुगुना अर्थदंड दिया जाए– *(वही, 20.10.)*

7. शूद्र यदि वैश्य को अपशब्द कहता है तो उसे ऐसा करने पर प्रथम अर्थदंड देने के लिए बाध्य किया जाए। क्षत्रिय को गाली देने पर मध्यम और ब्राह्मण को (अपशब्द कहने पर) सर्वोच्च दंड दिया जाए– *(वही, 20.11.)*

8. ब्राह्मण से अपशब्द बोलने वाले क्षत्रिय को सौ पण, वैश्य को डेढ़ सौ या दो सौ पण और शूद्र को शारीरिक दंड दिया जाए– *(मनु., 8.267.)*

9. क्षत्रिय से अपशब्द बोलने वाले ब्राह्मण को पचास पण वैश्य को पच्चीस पण और शूद्र को बारह पण का दंड दिया जाए– *(वही, 8.268.)*

10. जो शूद्र द्विज को दारुण वचन कह उसकी अवमानना करता है, उसकी जीभ कटवा दी जाए क्योंकि वह नीच कुलोद्भव है– *(मनु., 8.270.)*

11. यदि वह द्विज का नाम और (उसकी) जाति का उल्लेख अपमान के तौर पर करता है तब उसके मुंह में दस अंगुल लंबी दहकती हुई कील डाल दी जाए– *(वही, 8.271.)*

12. यदि वह ब्राह्मण को उद्दंडतापूर्वक उसके कर्तव्य की शिक्षा देता है तब राजा उसके मुख और कानों में खौलता हुआ तेल डलवाए– *(वही, 8. 272.)*

13. ब्राह्मण और क्षत्रिय द्वारा एक-दूसरे को अपवचन कहने पर विवेकसंपन्न राजा द्वारा अवश्य अर्थदंड दिया जाए, जो ब्राह्मण के लिए सबसे कम और क्षत्रिय के लिए औसतन हो– *(वही, 8. 276.)*

14. यदि नीच जाति का कोई व्यक्ति अपने किसी भी अंग से (तीन उच्च जातियों के) व्यक्ति को क्षति पहुंचाए तब उसका वह अंग कटवा दिया जाए, यही मनु की शिक्षा है– *(वही, 8. 279.)*

15. नीच जाति का जो व्यक्ति अपना हाथ या लाठी उठाए उसका हाथ कटवा दिया जाए, जो व्यक्ति गुस्से में अपनी लात से मारे उसकी वह लात कटवा दी जाए– *(वही, 8. 280.)*

16. नीच जाति का व्यक्ति यदि ऊंची जाति के व्यक्ति के आसन पर बैठने का प्रयत्न करे तब उसके नितंब को दगवा दिया जाए और उसे राज्य से निष्कासित कर दिया जाए या राजा द्वारा उसके नितंब में गहरा घाव करवा दिया जाए– *(वही, 8. 281.)*

17. अगर वह उद्दंड हो (अपने से श्रेष्ठ पर) थूक दे तब राजा उसके दोनों ओष्ठों को कटवा देगा, अगर वह (उस पर) पेशाब कर दे तब राजा उसके शिशन को कटवा देगा, अगर वह (उसकी ओर) आपान वायु छोड़ दे तब उसकी गुदा को कटवा देगा– *(वही, 8. 282.)*

18. यदि वह अपने से श्रेष्ठ को केश पकड़कर खींचे तब राजा निस्संकोच उसके दोनों हाथ कटवा देगा, इसी तरह अगर वह उसकी टांगें पकड़कर खींचे तब राजा उसकी दाढ़ी, गर्दन या अंडकोष कटवा देगा–*(वही, 8. 283.)*

प्रत्येक वर्ण वर्ग की हैसियत, सम्मान और स्थान

1. पुरुष के विषय में कहा जाता है कि वह नाभि के नीचे की अपेक्षा उसके ऊपर अधिक शुद्ध होता है, इसलिए स्वयंभू ने उसका मुख उसके शरीर में सबसे अधिक शुद्ध घोषित किया है– *(मनु., 1. 92.)*

2. चूंकि ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ, चूंकि वह सबसे पहले उत्पन्न हुआ और चूंकि उसे वेद प्राप्त हैं, इसलिए वह अधिकार से अपनी इस समस्त सृष्टि का स्वामी है– (वही, *1. 93.)*

3. चूंकि स्वयंभू ने तपस्या पूर्ण करने के बाद उसे अपने मुख से उत्पन्न किया जिससे पूजार्चना देवताओं और पितृगणों को भेजी जा सके और यह ब्रह्मांड संरक्षित रहे– *(वही, 1. 94.)*

4. कौन ऐसा सृजित जीव है जो उससे श्रेष्ठ है जिसके मुख के माध्यम से देवता हव्य और पितृगण कव्य को ग्रहण करते हैं– *(वही, 1. 95.)*

5. समस्त सृष्टि में वे सर्वश्रेष्ठ हैं जो प्राणधारी हैं, प्राणियों में वे सर्वश्रेष्ठ हैं जिनकी जीविका का साधन बुद्धि है, बुद्धिजीवियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है और मनुष्यों में (वे सर्वश्रेष्ठ हैं) जो ब्राह्मण हैं– *(वही, 1. 96.)*

6. ब्राह्मण अस्तित्व में आने के बाद इस पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ के रूप में जन्म लेता है, वह समस्त सृजित प्राणियों का स्वामी होता है– *(वही, 1.99.)*

7. पृथ्वी पर जो कुछ भी है वह सब ब्राह्मणों का है। अपनी उत्पत्ति के उत्तम होने के कारण ब्राह्मण निश्चय ही सबका अधिकारी है– *(वही, 1. 100.)*

8. जिस प्रकार शास्त्र विधि से स्थापित अग्नि तथा सामान्य अग्नि-दोनों ही श्रेष्ठ देवता हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण चाहे मूर्ख हो या विद्वान दोनों ही रूपों में महान है– *(वही, 9. 317.)*

9. यद्यपि ब्राह्मण सभी प्रकार के शुद्ध कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, तथापि वे हर प्रकार से पूजनीय हैं क्योंकि वे महान देवता हैं– *(वही, 9. 319.)*

10. और (पिता) अपने बालक के जन्म के दसवें या बारहवें दिन या शुभ तिथि पर शुभ मुहुर्त में शुभ ग्रहों का योग होने पर बालक का नामकरण संस्कार कराए– *(वही, 2. 30.)*

11. ब्राह्मण के नाम का पहला भाग ऐसा हो जो (कुछ) मंगलकारी होने का सूचक हो, क्षत्रिय का शक्ति से संबंधित और वैश्य का संपत्ति से संबंधित हो, लेकिन शूद्र का (कुछ ऐसा हो) जो घृणा योग्य हो– *(मनु., 2. 31.)*

12. ब्राह्मण के नाम का दूसरा भाग ऐसा (शब्द) होगा जिसमें सुख का भाव निहित हो, क्षत्रिय के नाम का दूसरा भाग ऐसा (शब्द) होगा जिसमें रक्षा करने का भाव निहित हो और वैश्य का ऐसा (शब्द) होगा जिसमें समृद्धि का भाव निहित हो तथा शूद्र का ऐसा होगा जिससे सेवा करने का भाव व्यक्त हो– *(वही, 2. 32.)*

13. वह (ब्राह्मण) ऐसे देश में निवास न करे जहां के शासक शूद्र हों, न .ही (ऐसे देश में निवास करे) जहां कदाचारी व्यक्तियों का बाहुल्य हो, न ही (ऐसे देश में निवास करे) जहां अपधर्म व्याप्त हो, न ही (ऐसे देश में निवास करे) जहां निम्नतम जातियां भरी पड़ी हों– *(वही, 4. 61.)*

14. जब राजा स्वयं (किसी न्यायिक विवाद के) कारणों के संबंध में निर्णय न कर सके तब उसे चाहिए कि वह इस कार्य के लिए किसी ब्राह्मण को नियुक्त करे जो विभिन्न शास्त्रों का विद्वान हो– *(कात्यायन, 63.)*

15. जब (उक्त गुणों से युक्त) कोई ब्राह्मण नहीं मिल सकता हो तब राजा को चाहिए कि वह किसी क्षत्रिय या वैश्य को नियुक्त करे जो धर्म में निष्णात हो और राजा को किसी शूद्र को न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करने से सतर्क रहना चाहिए– *(वही, 67.)*

16. इनके अतिरिक्त अन्य के द्वारा (न्यायाधीश के रूप में) जो कुछ किया गया है, वह निश्चित रूप से गलत किया गया समझा जाना चाहिए, चाहे वे (राजा के ही) अधिकारी क्यों न हों और चाह संयोग से इस प्रकार किया गया निर्णय धर्म-ग्रंथों के अनुसार ही क्यों न हो– *(वही, 68.)*

17. ब्राह्मण जो अपनी जाति के नाम के कारण ही भरण-पोषण करता है या जो अपने को केवल ब्राह्मण कहता है (चाहे उसका वंश अनिश्चित ही क्यों न हो) वह राजा के अनुरोध पर उसके लिए धर्म का निर्वचप कर सकता है, लेकिन यह कार्य कोई शूद्र कभी नहीं कर सकता– *(मनु., 8.20.)*

18. जिस राज्य में उसका राजा दर्शक की भांति केवल देखता रहता है और उसी की ही उपस्थिति में शूद्र न्याय का विचार करता है, वह राज्य

उसी प्रकार अधोगति को प्राप्त होता है, जिस प्रकार गाय दलदल में नीचे धंस जाती है– *(मनु., 8.21.)*

19. किसी ब्राह्मण को जो कानून को अच्छी तरह जानता है, अपने प्रति किसी के द्वारा किए गए अपराध के विषय में राजा से शिकायत करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह अपनी शक्ति से ही उस व्यक्ति को दंडित कर सकता है, जिसने अपराध किया है– *(वही, 9. 31.)*

20. उसकी अपनी शक्ति राजा की शक्ति से अधिक होती है, इसलिए ब्राह्मण अपनी शक्ति से ही अपने शत्रुओं को दंड दे सकता है– *(वही, 11. 32.)*

21. ब्राह्मण के बारे में यह घोषित है कि वह (विश्व का) सृजक, दंडदाता, शिक्षक है और इसलिए वह (सभी सृजित प्राणियों का) उपकारकर्ता है, इसलिए कोई भी व्यक्ति उससे अपभाषण न करे और न उसके विरुद्ध कटूक्ति ही बोले– *(वही, 11. 35.)*

वर्णों वर्गों में परस्पर संबंध

I

1. चारों वर्णों में उल्टे क्रम में दासता की अनुमति नहीं है– *(नारद, 5.39.)*

2. तीनों वर्णों के लोग दास बन सकते हैं, किंतु ब्राह्मण कभी भी दास नहीं बन सकता। दास-प्रथा तीनों वर्णों अर्थात क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के मामले में सीधे क्रम में होती है, न कि उलटे क्रम में। शूद्र चारों वर्णों में से किसी का भी दास बन सकता है, वैश्य पहले तीन वर्णों का दास बन सकता है, लेकिन वह शूद्र स्वामी का दास नहीं बन सकता। क्षत्रिय ब्राह्मण या क्षत्रिय स्वामी का दास बन सकता है, किंतु वह वैश्य या शूद्र स्वामी का दास नहीं बन सकता– *(कात्यायन, 715-716.)*

3. ब्राह्मण समान वर्ण का होने पर भी किसी ब्राह्मण से उसे अपना दास बनाकर काम नहीं करा सकता। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समान वर्ण के यहां प्रायः दास बन सकता है, परंतु किसी ब्राह्मण से दास का कार्य कदापि न कराया जाए– *(वही, 717-718.)*

II

4. द्विज के प्रथम विवाह के लिए समान जाति की (पत्नि) हो, लेकिन जो दुबारा विवाह करना चाहे तब जातियों के प्रत्यक्ष क्रम के अनुसार एक के बाद दूसरे वर्ण की स्त्री ही सर्वाधिक अनुमोदित है – *(मनु., 3.12.)*

5. यह घोषित किया जाता है कि शूद्र स्त्री केवल किसी शूद्र की पत्नी बन सकती है, वह और वैश्य की अपनी जाति (की स्त्री) ही किसी वैश्य की पत्नी बन सकती है, उक्त दोनों जातियों और क्षत्रिय की अपनी जाति (की स्त्री) ही किसी क्षत्रिय की पत्नी बन सकती है, उक्त तीनों जातियों और ब्राह्मण की अपनी जाति (की स्त्री) ही किसी ब्राह्मण की पत्नी बन सकती है– (वही, *3.13.)*

6. यदि कोई द्विज अपनी जाति की या अन्य (निम्न जातियों की) स्त्रियों के साथ विवाह कर ले तो उनकी वरीयता, पद और निवास वर्ण के क्रम के अनुसार निश्चित किया जाना चाहिए– *(वही, 9.85.)*

7. सभी (द्विज पुरुषों में) केवल समान जाति की स्त्री व्यक्तिगत रूप से अपने पति की सेवा-सुश्रुषा करे और वही उसके यज्ञादि कर्मों में उसकी सहायक होगी, किसी दूसरी जाति की स्त्री नहीं– *(वही, 9.86.)*

8. यदि किसी शूद्र ने द्विज जाति की रक्षित या अरक्षित स्त्री के साथ संभोग किया है, तब उसे इस प्रकार दंड दिया जाए : यदि वह अरक्षित थी, तब उसका लिंग कटवा दिया जाए और उसकी समस्त संपत्ति छीन ली जाए : यदि वह रक्षित थी, तब उसका सब कुछ छीन लिया जाए (उसका जीवन भी)– *(वही, 8.374.)*

9. रक्षित ब्राह्मणी के साथ संभोग करने पर वैश्य की समस्त संपत्ति उसे एक वर्ष तक कारागार में रखने के बाद जब्त कर ली जाए, क्षत्रिय को एक सहस्त्र (पण) का अर्थदंड दिया जाए और उसका सिर (गधे के) मूत्र से मुंडवा दिया जाए– *(वही, 8.375.)*

10. अगर कोई वैश्य या क्षत्रिय किसी अरक्षित ब्राह्मणी के साथ संभोग करता है तब वह वैश्य पर पांच सौ पण और क्षत्रिय पर एक सहस्त्र पण का अर्थदंड करे– *(वही, 8.376.)*

11. यदि कोई वैश्य किसी क्षत्रिय की रक्षित स्त्री के साथ या कोई क्षत्रिय किसी वैश्य की रक्षित स्त्री के साथ संभोग करे, तब ये दोनों वैसा ही दंड पाने के योग्य हैं, जैसा कि किसी अरक्षित ब्राह्मणी के प्रसंग में दिया जाता है– *(मनु, 8.382.)*

12. यदि किसी ब्राह्मण ने इन दोनों (जातियों की) रक्षित स्त्रियों के साथ संभोग किया है तब उसे अर्थदंड स्वरूप एक सहस्त्र पण देने के लिए बाध्य किया जाए। शूद्र (रक्षित) स्त्री के साथ (संभोग करने पर) क्षत्रिय या वैश्य को भी एक सहस्त्र पण का अर्थदंड दिया जाए– *(वही, 8.383.)*

13. अरक्षित क्षत्रिय स्त्री के साथ संभोग करने पर वैश्य को पांच सौ पण का अर्थदंड दिया जाए, किंतु (ऐसा ही अपराध करने पर) क्षत्रिय का सिर (गधे के) मूत्र से मुंडवा दिया जाए या उसे उतना ही अर्थदंड दिया जाए – *(वही, 8.384.)*

14. यदि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य (जातियों की) अरक्षित स्त्रियों या शूद्र स्त्री के साथ संभोग करता है तब उसे पांच सौ (पण) का अर्थदंड दिया जाए, लेकिन निम्नतम (जातियों की) स्त्री के साथ संभोग करने पर एक सहस्त्र पण अर्थदंड दिया जाए– *(वही, 8.385.)*

III

15. जो अतिथि (स्वेच्छा से) घर आए तब (गृहस्थ को) चाहिए कि वह उसे नियमानुसार आसन और जल तथा भोजन, स्वादिष्ट व्यंजन सहित अपनी सामर्थ्य के अनुसार दे– *(वही, 3.99.)*

16. क्षत्रिय जो ब्राह्मण के घर आता है, अतिथि नहीं कहलाता, न वैश्य, न शूद्र न कोई मित्र, न संबंधी और न गुरु– *(वही, 3. 110.)*

17. लेकिन यदि क्षत्रिय अतिथि के रूप में ब्राह्मण के घर आए तब ब्राह्मणों को भोजन कराने के बाद (गृहस्थ) अपनी इच्छानुसार उसको भोजन कराए– *(वही, 3.111.)*

18. यदि कोई वैश्य और शूद्र भी उसके घर अतिथि के रूप में आए तब वह उसके प्रति दया का भाव प्रदर्शित करते हुए अपने सेवकों के साथ भोजन कराए– *(वही, 3. 112.)*

कर्तव्य-विशेषाधिकार-छूट-अपात्रता

I

1. जो ब्राह्मण ब्रह्म से मिलन के साधनों पर एकाग्र हैं और अपने कर्तव्यों के पालन में दृढ़ हैं, आजीवन निम्नलिखित छह कर्तव्यों का पालन करेंगे जिनका (वर्णन) उनके उचित क्रम के अनुसार किया गया है– *(मनु., 10.74.)*

2. प्रत्येक ब्राह्मण के लिए ये छह कर्म (निर्धारित हैं), अध्यापन, अध्ययन, स्वयं के लिए यज्ञ करना, अन्यों के लिए यज्ञ करना, दान देना और दान लेना– *(वही, 10.75.)*

3. लेकिन उसके लिए (निर्धारित) छह कर्मों में से तीन कर्म उसकी जीविका के साधन हैं अर्थात अन्यों के लिए यज्ञ करना, अध्यापन और पवित्र व्यक्तियों से दान ग्रहण करना– *(वही, 10.76.)*

4. ब्राह्मण के बाद क्षत्रिय के लिए तीन कर्म, जो ब्राह्मण के लिए अनिवार्य हैं अर्थात अध्यापन, अन्यों के लिए यज्ञ करना और उसके निमित्त दान ग्रहण करना, वर्जित हैं– *(वही, 10.77.)*

5. इसी प्रकार ये तीनों कर्म वैश्य के लिए वर्जित हैं, यह शाश्वत नियम हैं क्योंकि मनु ने जो समस्त जीवों के स्वामी (प्रजापति) हैं ये कर्म उक्त दोनों (जातियों के व्यक्तियों के लिए) निर्धारित नहीं किए हैं– *(वही, 10.78.)*

6. मारने के लिए और फेंक कर मारने के लिए शस्त्रास्त्र धारण करना क्षत्रियों के लिए, व्यापार करना, पशु (पालन) करना और कृषि वैश्यों के लिए जीविकार्थ निर्धारित कर्म हैं, लेकिन उनके कर्तव्य है, दान देना, वेदाध्ययन और यज्ञ करना– *(वही, 10.79.)*

7. सभी व्यवसायों में से ब्राह्मणों के लिए वेद का अध्यापन, क्षत्रिय के लिए लोगों की सुरक्षा करना और वैश्य के लिए व्यापार करना सबसे अधिक उत्तम कर्म हैं– *(वही, 10.80.)*

8. ब्राह्मणों की सेवा करना शूद्र के लिए एकमात्र उत्तम कर्म कहा गया है क्योंकि इसके अतिरिक्त वह जो कुछ करेगा, उसका उसे कोई फल नहीं मिलेगा– *(वही, 10.123.)*

II

9. लेकिन यदि ब्राह्मण अपने इन विशिष्ट कर्मों से जिनका अभी उल्लेख किया गया है, अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सके तब क्षत्रियों के लिए लागू नियम से जीवन-निर्वाह कर सकता है, क्योंकि वह पद के अनुसार उसके बाद आता है– (*मनु.,* 10.81.)

10. यदि यह पूछा जाए कि अगर वह इन दोनों कर्मों में से किसी भी एक कर्म से अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सके तब क्या किया जाए तो उत्तर है कि वह वैश्य की जीवन-पद्धति अपना ले, स्वयं खेती करे और पशु-पालन करे– (*वही, 10.82.)*

11. जीविका के लिए संकट-ग्रस्त होने पर क्षत्रिय इन साधनों से जीविका निर्वाह करे जो वैश्य के लिए वर्जित नहीं हैं– (*वही, 10.95.)*

12. अपने कार्यों से जीवन-निर्वाह न कर सकने वाला वैश्य शूद्र की जीवन-पद्धति द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करे और यह विचार न करे कि ये कार्य तो (उसके लिए) निषिद्ध हैं और जब वह समर्थ हो जाए तब उसे उस कार्य से निवृत्त हो जाना चाहिए– (*वही, 10.98.)*

13. लेकिन जब शूद्र को द्विजों से सेवा-कार्य न मिल सके और जब उसकी पत्नी, पुत्रों आदि के भूख से मर जाने की स्थिति आ जाए, तब उसे काठ कर्म द्वारा जीविका का निर्वाह करना चाहिए– (*वही, 10.99.)*

III

14. क्षत्रिय उद्दंड होकर कभी भी वह जीवन-पद्धति न अपनाए, जो (उससे) श्रेष्ठ (अर्थात ब्राह्मणों के लिए) निर्धारित है– (*वही, 10.95.)*

15. राजा को वैश्य को व्यापार करने, ब्याज पर धन देने, कृषि करने, पशु उधार देने और शूद्र को द्विज जातियों की सेवा करने का आदेश देना चाहिए– (*वही, 8.410.)*

16. राजा सावधानीपूर्वक वैश्यों और शूद्रों को अपना-अपना कर्तव्य (जो उनके लिए निर्धारित हैं) करने के लिए बाध्य करे, अगर ये दोनों जातियां अपने-अपने कर्म से विरत होती हैं, तब वे इस समस्त संसार को अस्त-व्यस्त कर डालेंगी– (*वही, 8.418.)*

IV

1. कोई भी राजा अंधे व्यक्ति को, मूर्ख को, (अपंग को) जो लाठी के सहारे के बिना उठ-बैठ या चल न सकता हो, उस व्यक्ति को जिसने सत्तर वर्ष की आयु पूरी कर ली हो और जो श्रोत्रियों को आर्थिक सहायता देता है, कोई कर देने के लिए बाध्य नहीं करेगा– *(मनु., 8.394.)*

2. कोई भी राजा (अभाव से) कितना ही ग्रस्त क्यों न हो, फिर भी श्रोत्रियों पर कर न लगाए और उसके राज्य में निवास करने वाला कोई भी श्रोत्रिय भूख से न मरे– *(वही, 7.133.)*

3. राजा अपने राज्य में रहने वाले साधारण जनों से जो फुटकर वस्तुओं की खरीद बिक्री से जीवन-नर्वाह करते हैं, कुछ धन वार्षिक देने को कहे जिसे कर कहा जाता है– *(वही, 7.137.)*

4. वह (राजा) यांत्रिकों और कारीगरों के साथ-साथ शूद्रों से भी जो शारीरिक श्रम कर जीवन-यापन करते हैं (अपने लिए) महीने में एक दिन काम करवाए– *(वही, 8.138.)*

5. ब्राह्मण के लिए मृत्यु-दंड के स्थान पर उसका सिर मुंडा देना निश्चित किया गया है, लेकिन अन्य जातियों के लोगों के लिए मृत्यु-दंड निश्चित किया गया है– *(वही, 8.379.)*

6. (राजा) किसी भी ब्राह्मण का वध न कराए चाहे उस ब्राह्मण ने सभी अपराध क्यों न किए हों, वह ऐसे (अपराधी को) अपने राज्य से निष्कासित कर दे और उसे (अपनी) समस्त संपत्ति और अपना (शरीर) सकुशल ले जाने दे– (वही *8.380.)*

7. इस पृथ्वी पर ब्राह्मण के वध से बढ़कर कोई दूसरा बड़ा पाप नहीं समझा जाता है, इसलिए राजा को अपने मन में किसी ब्राह्मण का वध करने का विचार नहीं लाना चाहिए– *(वही, 8.381.)*

8. जब किसी विद्वान ब्राह्मण को प्राचीन-काल में भूमि में गड़ी कोई निधि मिल जाए तब वह उसे सारी की सारी ग्रहण कर ले क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु का स्वामी है– *(वही, 8.37.)*

9. जब राजा को भूमि में गड़ी कोई पुरानी निधि मिल जाए तब वह

उसका आधा भाग ब्राह्मणों को दे दे और शेष आधा भाग अपने राजकोष में जमा कर दे– *(मनु., 8.38.)*

जीवन-चर्या

1. प्रत्येक शूद्र जो शुचिपूर्ण है, जो अपने से उत्कृष्टों का सेवक है, मृदुभाषी है, अहंकार रहित है और सदा ब्राह्मणों के आश्रित रहता है, (अगले जन्म में) उच्चतर जाति प्राप्त करता है– *(वही, 9.335.)*

2. लेकिन शूद्र ब्राह्मणों की सेवा करे चाहे स्वर्ग के लिए हो या चाहे दोनों उद्देश्यों के लिए (अर्थात इस जन्म और इससे अगले जन्म के लिए) हो, क्योंकि वह जो ब्राह्मण का सेवक कहा जाता है, अपने सभी उद्देश्यों को प्राप्त कर लेता है– (*वही,* 10.122.)

3. यदि कोई शूद्र (जो ब्राह्मणों की सेवा से अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर पाता है), जीविका चाहता है तब वह क्षत्रिय की सेवा करे या वह किसी धनी वैश्य की सेवा कर अपना जीवन-निर्वाह करे– *(वही.; 10.121.)*

4. उनको चाहिए कि वे उसकी योग्यता, उसके परिश्रम और यह ध्यान में रखकर कि उसे कितने आश्रितों का पालन-पोषण करना है, अपने परिवार (की संपत्ति में से) उसके लिए उचित अंश जीवन-निर्वाह के लिए नियत करे– *(वही, 10.124.)*

5. खाने से बचा हुआ अन्न तथा पुराने वस्त्र, बचा हुआ अनाज और गृहस्थी का पुराना सामान उसे अवश्य दिया जाए– *(वही, 10.125.)*

6. किसी भी शूद्र को संपत्ति का संग्रह नहीं करना चाहिए चाहे वह इसके लिए कितना भी समर्थ क्यों न हो, क्योंकि जो शूद्र धन का संग्रह कर लेता है, वह ब्राह्मणों को कष्ट देता है– *(वही,* 10.129.)

7. यथा शास्त्र जीवन-निर्वाह करने वाले शूद्रों को हर महीने अपना मुंडन करवाना चाहिए, उनकी शुचि का विधान वैसा ही होगा जैसा वैश्यों का होता है और उनका भोजन आर्यों के भोजन का उच्छिष्ट अंश होगा– *(वही, 5.140.)*

जैसा कि कहा जा चुका है, प्राचीन विधि-निर्माताओं ने जिस समाज के लिए अपनी-अपनी व्यवस्थाएं दीं, वह दो भागों में था। एक भाग उन लोगों का था जो चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था में सम्मिलित थे। दूसरे भाग में वे लोग

आते थे जो चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था से बाहर थे। *मनुस्मृति* में इन्हें बाह्य अर्थात चातुर्वर्ण्य की परिधि से बाहर कहा गया है। उन्हें निम्न जाति कहा गया है। इस निम्न जाति का उद्‌भव ऐसा विषय है, जिससे फिलहाल अभी मैं संबंधित नहीं हूं। यहां इतना ही कहना यथेष्ट है कि हिंदुओं के इन प्राचीन विधि-निर्माताओं के अनुसार इन निम्न जातियों की उत्पत्ति उन चारों वर्णों– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के बीच परस्पर विवाह-संबंध होने से हुई, जो चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में सम्मिलित किए गए। यह कहां तक सच है, इस पर कभी बाद में विचार किया जाएगा। हम मुख्यतः सामाजिक संबंधों से संबंधित हैं, इनकी उत्पत्ति से नहीं। अब तक जिन विधानों की चर्चा की गई है, वह उन लोगों से संबंधित है, जो चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था के अंतर्गत आते हैं। अब उन नियमों की चर्चा की जानी है, जो चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के बाहर रखे गए अथवा जिन्हें निम्न जाति कहा गया। आश्चर्य यह है कि जो नियम निम्न जातियों की जीवन-चर्या नियंत्रित करते हैं, वे बहुत थोड़े हैं। ये नियम यद्यपि बहुत थोड़े हैं तो भी इन नियामकों ने उन्हें इतना संक्षिप्त कर दिया है कि किसी को नियमों की ब्यौरेवार संहिता की कोई आवश्यकता नहीं हुई। ये नियम निम्नलिखित हैं :

1. इस पृथ्वी पर जो भी जातियां उस समुदाय से अलग रखी गई हैं जो मुख, बाहु, जंघा और (ब्राह्मण के) पैरों से जन्मी हैं, वे दस्यु कहलाती हैं, जो चाहे म्लेच्छों (बर्बर जातियों) की भाषा बोलती हो या आर्यों की– *(मनु., 10.45.)*

2. ये जातियां प्रसिद्ध वृक्षों और श्मशान भूमि के निकट या पर्वतों पर और झाड़ियों के पास निवास करें, (कुछ चिह्नों से) जानी जाएं और अपने विशिष्ट व्यवसाय से जीविकोपार्जन करें– (*वही,* 10.50.)

3. लेकिन चांडालों और श्वपचों के घर गांव के बाहर होंगे, उन्हें अपपात्र बनाया जाना चाहिए और उनकी संपत्ति कुत्ते और गधे होंगे– (*वही,* 10.51.)

4. मृतक के वस्त्र इनके वस्त्र होंगे, वे टूटे-फूटे बर्तनों में भोजन करेंगे, उनके गहने काले लोहे के होंगे और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते रहेंगे– *(वही, 10.52.)*

5. धर्म का आचरण करने वाला व्यक्ति इन लोगों के साथ व्यवहार न

रखे और उनके व्यवहार उनके अपने ही समुदाय में होंगे और विवाह समान व्यक्तियों के साथ ही होंगे– *(मनु., 10.53.)*

6. उनका भोजन (आर्य दाता के अतिरिक्त) अन्य के द्वारा टूटे-फूटे बर्तन में दिया गया होगा। रात्रि के समय वे गांवों और नगरों के आस-पास नहीं जाएंगे– (वही, *10.54.)*

7. दिन में वे, राजा के द्वारा चिह्नों से अंकित हो जिससे वे अलग-अलग पहचाने जा सकें, अपने-अपने काम के लिए जाएंगे और उन व्यक्तियों के शवों को ले जाएंगे जिनके कोई सगे-संबंधी नहीं हैं, यही शास्त्र-सम्मत मर्यादा है– *(वही, 10.55.)*

8. वे राजा का आदेश होने पर अपराधियों का वध कानून में विहित विधि के अनुसार हमेशा करेंगे और वे अपने लिए (ऐसे) अपराधियों के वस्त्र, शैया और आभूषण प्राप्त करेंगे– *(वही, 10.56.)*

9. जो भी व्यक्ति निम्नतम जातियों की किसी स्त्री के साथ संबंध रखता है, उसका वध कर दिया जाएगा– *(विष्णु, 5.43.)*

10. अगर कोई व्यक्ति जिसको (चांडाल या किसी अन्य निम्न जाति का होने के कारण) स्पर्श नहीं किया जाना चाहिए, जान-बूझकर अपने स्पर्श से ऐसे व्यक्ति को अपवित्र करता है, जो द्विज जाति का होने के कारण (केवल द्विज व्यक्ति द्वारा ही) छुआ जा सकता है, तो उसका वध कर दिया जाएगा– *(वही, 5.104.)*

❑❑

भाग III
समस्या की जड़ें

8

विदेश के तदनुरूप उदाहरण

[I. रोम में गुलाम-प्रथा, II. इंग्लैंड में अर्ध-गुलाम, III. यहूदी और हीनता, तथा IV. नीग्रो और गुलाम-प्रथा]

सामाजिक असमानता केवल हिंदू समाज में ही नहीं है। यह अन्य देशों में भी रही और समाज के उच्च और निम्न, मुक्त और अमुक्त, पूजनीय और निंदनीय वर्गों में बंटने का कारण यही रही है। अन्य प्राचीन और आधुनिक देशों में अमुक्त और निंदनीय वर्गों की स्थिति और उनकी हैसियत के साथ भारत के अस्पृश्यों की स्थिति और उनकी हैसियत की तुलना करने पर बहुत-सी बातों का पता चलेगा। इनके अंतर और समानताओं को भली-भांति समझने के लिए इन एक जैसे उदाहरणों के इतिहास की संक्षिप्त जानकारी प्राप्त कर लेना, उनकी तुलना करने से पहले अत्यंत आवश्यक है। विश्व के सभी भागों में इन सभी वर्गों की स्थिति का सर्वेक्षण प्रस्तुत करना संभव नहीं। न यह आवश्यक है। केवल कुछ थोड़े से उदाहरण व्याख्या के रूप में लिए जा सकते हैं।

हिंदुओं और अस्पृश्यों के बीच परस्पर संबंध का अध्ययन करते समय हमारे मन में तीन प्रश्न एकदम उभर कर सामने आते हैं। अस्पृश्यता क्यों कर समाप्त नहीं हुई? अस्पृश्यों पर अन्याय को हिंदू वैध और न्यायपूर्ण क्यों मानते हैं? अस्पृश्यों के साथ अपने व्यवहार में हिंदू अपने विवेक के संकेत का अनुभव क्यों नहीं करते?

I

अस्पृश्यों जैसे निम्न और निर्दलीय वर्ग कभी अन्य समाजों में भी रहे हैं। उदाहरणार्थ, ये कभी प्राचीन रोम में होते थे। प्राचीन रोम में पांच प्रकार के निवासी थे– 1. पैट्रीशियन (कुलीन), 2. प्लेबियन (अकुलीन), 3. क्लायंट (पराधीन), 4. गुलाम, और 5. फ्रीमेन (मुक्त गुलाम)।

पैट्रीशियन लोग शासक वर्ग के होते थे। वे प्रत्येक अर्थ में नागरिक होते थे, शेष सभी हैसियत में नीचे होते थे। प्लेब और क्लायंट वर्ग-युद्ध में नष्ट हो गए। नए लोगों में से जिन लोगों ने पैट्रीशियनों के प्रतिष्ठित परिवारों के प्रमुखों की शरण में रहने की याचना की व उनकी अधीनता स्वीकार कर ली, वे क्लायंट कहलाए। जिन लोगों ने इस प्रकार के व्यक्तिगत सरंक्षण के अधीन रहना स्वीकार नहीं किया और सीधे राज्य का संरक्षण स्वीकार किया, वे शाही गुदस्तादार बन गए। इन लोगों को प्लेबियन कहा जाने लगा। प्लेबियनों को चल और अचल, दोनों प्रकार की संपत्ति रखने का अधिकार था। वे अपनी संपत्ति को रोम के कानून के अधीन हस्तांतरित कर सकते थे और इसके लिए न्यायाधिकरणों की सहायता प्राप्त कर सकते थे। लेकिन उन्हें नगर के प्रशासन में कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था। वह अर्ध-नागरिक होते थे। उन्हें नगर के धार्मिक कार्यकलापों में भाग लेने की अनुमति नहीं थी। पैट्रीशियन और प्लेबियन के बीच विवाह-संबंध होने का तो प्रश्न ही नहीं था। क्लायंट को सहायता और सुरक्षा के लिए अपने पैट्रीशियन संरक्षक पर निर्भर रहना पड़ता था। क्लायंट और उसके बाल-बच्चों के जीवन-निर्वाह के लिए सभी आवश्यकताओं की पूर्ति उसके पैट्रीशियन संरक्षक को करनी पड़ती थी। यह संबंध पीढ़ी दर पीढ़ी का होता था, जो पिता के बाद उसके पुत्र से होता था। क्लायंट को न केवल अपने भरण-पोषण के लिए अपने पैट्रीशियन संरक्षक पर निर्भर रहना होता था, बल्कि उसे अपनी कानूनी सुरक्षा के लिए भी उसी पर निर्भर रहना पड़ता था। चूंकि वह नागरिक नहीं होता था, इसलिए उसे कानूनी कार्रवाई करने का अधिकार प्राप्त नहीं था, और उसके कष्ट-निवारण के लिए उसके पैट्रीशियन संरक्षक को उसकी सहायता करनी पड़ती थी और उसके मुकदमेबाजी में फंस जाने पर उसके बदले न्यायाधिकरण के सामने उपस्थित होना पड़ता था।

जहां तक गुलामों का प्रश्न है, उनकी संख्या लाखों में थी। हर अमीर जमींदार के पास सैकड़ों या हजारों की संख्या में गुलाम होते थे। जिस किसी के पास थोड़े-बहुत गुलाम न हों, वह निर्धन कहलाता था। गुलाम निजी संपत्ति होते थे। वे कानून की दृष्टि से मनुष्य नहीं थे और इसलिए उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। कुछेक स्वामी ही उन पर दयालु होते थे। आमतौर से उनके साथ अत्यंत निर्दयतापूर्ण व्यवहार होता था। सेनेका का कथन है – 'यदि भोजन के समय कोई दास खांस देता या छींक देता

या उसके हाथ से चाबी गिर जाती और उसकी आवाज सुनाई पड़ जाती, तो हमें बहुत गुस्सा आ जाता था। ... हम अक्सर उसकी खूब पिटाई करते थे। उसके हाथ-पैर या दांत तोड़ देते थे।' एक अमीर रोमवासी अपने गुलाम को उसकी लापरवाही पर मछलियों के पोखर में धकेल देता था, जिससे लेम्प्रे मछलियां उसे नोच-नोचकर खा लें। जो गुलाम अपने स्वामी को अप्रसन्न कर देता था तो उसे सजा के तौर पर तहखाने में बंद कर दिया जाता था। सारा दिन उन्हें भारी-भारी जंजीरों में बंधे-बंधे काम करना पड़ता था। कई गुलामों को गर्म सलाखों से दाग दिया गया था। रोम के एक लेखक ने एक मिल का वर्णन जहां इन दासों को काम करना पड़ता था, इन शब्दों में किया है :

> हे भगवान! ये ठठरियां भी क्या कोई इंसान हैं? इनकी चमड़ी कोड़ों की मार से उधड़ी पड़ी है। शरीर चिथड़ों में लिपटा हुआ है, सारा शरीर मुड़ गया है, सिर मुंडा हुआ है, पैरों में सांकले पड़ी हुई हैं, आग की गर्मी से शरीर टेढ़ा-मेढ़ा हो गया है, पलकें आग की लपटों से झुलसी हुई हैं और पूरे शरीर पर भूसी लिपटी हुई है।

किसी समय में अंग्रेजों के समाज में भी सेवक वर्ग हुआ करता था। यह जानने के लिए कि नारमनों की विजय के समय अंग्रेजों के समाज की क्या दशा थी। हमें 'डूम्सडे' पुस्तक के पृष्ठ उलटने होंगे। इस पुस्तक में इंग्लैंड की भूमि-व्यवस्था और विभिन्न प्रकार के किसानों का सामाजिक सर्वेक्षण किया गया है, जैसी कि विजेता विलियम ने 1086 में अपनी विजय के तुरंत बाद यहां स्थापित की थी। इस पुस्तक में उस समय की आबादी के निम्नलिखित वर्ग बताए गए हैं :

वर्ग		संख्या	योग
1. सामंतों के नीचे भद्र लोगों का वर्ग और पादरी	← सर्वोच्च पट्टेदार	1,400	9,300
	← अधीनस्थ पट्टेदार	7,900	
2. भूमिधर	← मुक्त गुलाम	12,000	44,000
छोटा भूमिधर	← खिदमती काश्तकार	32,000	

3. अर्ध-मुक्त या अमुक्त	← अर्ध-गुलाम	1,69,000	25,9,000
	← झोंपड़ी में रहने के बदले काम करने वाले किसान	90,000	
4. गुलाम			25,000

कुल 3,37,000 की जनसंख्या में 2,84,000 लोग या तो अमुक्त थे या फिर गुलाम थे।

वह कुछ ऐसा सेवक वर्ग था, जो नस्ल या धर्म पर आधारित नहीं था। लेकिन इतिहास में धर्म और नस्ल के आधार पर बने सेवक वर्ग के कई उदाहरण मिलते हैं। इनमें यहूदी मुख्य थे। ईसाइयों के इस विश्वास के आधार पर कि ईसा की मृत्यु यहूदियों के कारण हुई, यहूदियों को सताया जाता रहा है। मध्य-काल में यूरोप के सभी शहरों में यहूदियों को सीमित क्षेत्र में रहने के लिए मजबूर किया जाता था, और यहूदियों के ये निवास-क्षेत्र 'घेट्टो' कहलाते थे। 1050 में आस्ट्रेलिया में कोएंजा में हुई ईसाइयों की एक महासभा में अधिनियमित किया गया कि 'कोई भी ईसाई किसी मकान में यहूदी और मूर (हब्शी) लोगों के साथ नहीं रहेगा और न उनके साथ भोजन करेगा, और जो कोई इस नियम को तोड़ेगा, वह सात दिन तक प्रायश्चित करेगा। यदि कोई व्यक्ति उच्च पदाधिकारी होकर ऐसा करने से इंकार कर दे तो उसका एक साल तक सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाए। यदि कोई साधारण व्यक्ति यह अपराध करे तो उसे एक सौ कोड़े लगाए जाएं।' 1388 में फैलेनशिया में हुई महासभा में एक नियम बनाया गया कि 'ईसाई उन घरों में न रहें, जो यहूदियों के लिए निर्धारित हैं, और जो वहां रह रहे हों, वे प्रमुख चर्च के द्वारा इस आदेश के जारी होने के दो महीने के भीतर वहां से हट जाएं, और यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो उन्हें पादरियों द्वारा प्रताड़ित किया जाए।' मध्य-काल में यहूदी इक्ट्ठे होकर एक जगह स्नान करते थे। स्नान करने के लिए और कोई दूसरा उपाय भी नहीं था। इसका कारण यह था कि ईसाई जिन नदियों में नहाते थे, वहां राज्य की ओर से यहूदियों का नहाना वर्जित था। चौहदवीं शताब्दी में औगर्स के यहूदियों को बहुत कठोर शर्तों पर नगर में फिर से रहने की इजाजत दी

गई थी। इन शर्तों में एक शर्त यह थी कि वे माईन नदी में स्नान नहीं कर सकते। राज्य द्वारा यहूदियों पर कुछ कर भी लगाए गए। ये कर तीन प्रकार के थे– 'व्यक्ति कर', व्यक्तिगत लेन-देन और विशेषाधिकारों पर विशेष प्रकार का जुर्माना और शुल्क। किस उम्र में यहूदी स्त्री या पुरुष 'व्यक्ति कर' का भुगतान शुरू कर देगा, उसमें बहुत अंतर था, किंतु यह उम्र बहुत कम होती थी। 1273 में इंग्लैंड की तरह स्पेन में भी दस साल की उम्र के यहूदियों को यह कर देना पड़ता था। शांति-काल में यहूदियों के घरों में सिपाहियों को जबरदस्ती रख उनसे धन वसूलना तो आम बात थी। मध्य-काल में जगह-जगह यहूदियों से इस प्रकार धन वसूल करने के असंख्य उदाहरण मिलते हैं। 1215 में पोप इनोसेंट तृतीय ने एक फरमान जारी किया कि ईसाइयों से अलग अपनी पहचान के लिए यहूदी बाहर अपने कपड़ों के ऊपर एक बिल्ला लगाया करेंगे। लेटरनन परिषद् ने स्पष्ट रूप से इस बात पर बल दिया कि यहूदी बिल्ला लगाएंगे, किंतु उसका विवरण नहीं बताया गया। उसने यह बात स्थानीय गवर्नरों और सरकारों पर छोड़ दी कि वे निश्चित करें कि उस अपमानजनक बिल्ले की छाप, रंग और आकार क्या होगा। प्रत्येक गवर्नर और सरकार ने अपनी मर्जी से बिल्लों का रंग और आकार निश्चित कर दिया। उन बिल्लों के रंग और आकार इतने बदले कि वे निरर्थक हो गए और यहूदियों ने ये बिल्ले लगाने छोड़ दिए। चूंकि बिल्ले अक्सर छिप जाया करते थे, इसलिए 1525 में पोप क्लीमेंट सप्तम ने यह व्यवस्था कर दी कि यहूदी अब पीला हैट या बोनेट पहना करेंगे।

अस्पृश्यों की मौजूदा स्थिति के दौरान किसी जमाने में इंग्लैंड के कैथोलिक ईसाइयों की स्थिति की याद आने लगती है। कैथोलिक ईसाइयों पर अनेक प्रकार की पाबंदियां थीं और उन्हें अनेक कष्ट भुगतने पड़ते थे। इनकी सूची निम्नलिखित है :

1. मौजूदा कानून के अनुसार कैथोलिक ईसाइयों के विवाह या ऐसे सभी विवाह गैर-कानूनी हैं, जो कैथोलिक पादरियों के द्वारा संपन्न कराए जाते हैं। इसके फलस्वरूप उस पक्ष को जिसका त्याग किया जाता है, चाहे उसका कारण कुछ भी क्यों न हो, स्थानीय चर्च से या अपने देश के राज्य की सरकार से कुछ भी हरजाना नहीं मिलेगा। यह विधान भी है कि इस अपराध के लिए उस पादरी को देश निकाला दे दिया जाए या उसे जेल में डाल दिया जाए या उसे निर्जन स्थान में भेज दिया जाए।

2. मौजूदा कानून के अनुसार चूंकि कैथोलिक पादरियों के भरण-पोषण या कैथोलिक पूजा-पद्धति पर दिया गया खर्च अंधविश्वास के प्रयोजनों पर किया गया खर्च समझा जाता है, इसलिए यह धनराशि जब्त की जा सकती है, अगर कोई व्यक्ति उसे हड़प लेता है, तब वह धनराशि कानून के तहत उससे वसूल नहीं की जा सकती। इस प्रकार की घटनाओं का उंल्लेख किया जा सकता है।

3. महामहिम की थल और जल सेना में काम करने वाले कैथोलिक अपने धर्म की रीति के अनुसार रविवार और अन्य त्यौहारों पर पूजा के लिए गिरजाघरों में नहीं जा सकते थे और उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध इन्हीं दिनों प्रोटेस्टेंट/गिरजाघरों में जाने के लिए मजबूर किया जाता था। यह ऐसा दोष था, जिसके कारण बहादुर और वफादार सैनिकों में असंतोष व्याप्त था और यह असंतोष तब व्यक्त होता था, जब हर व्यक्ति से संगठित हो शत्रु का सामना करने के लिए यह अपेक्षा की जाती थी कि ऐसे क्षणों में यूनाइटेड किंगडिम एकजुट रहेगा।

4. चार्ल्स द्वितीय के 13 वें आदेश के द्वारा जिसे प्रायः कारपोरेशन एक्ट कहा जाता है, सभी कैथोलिक ईसाइयों को नगरों और कारपोरेशन के प्रशासन कार्य से वंचित कर दिया गया था।

5. चार्ल्स द्वितीय के 25 वें आदेश के द्वारा जिसे प्रायः टेस्ट एक्ट कहा जाता है, सभी कैथोलिक ईसाइयों को सिविल और सेना की नौकरियों से वंचित कर दिया गया था।

6. विलियम तृतीय के 7 वें व 8 वें आदेश के द्वारा लगभग 27वीं शताब्दी में रोम के कैथोलिक ईसाइयों को चुनाव में मत डालने से वंचित किया जा सकता था।

7. चार्ल्स द्वितीय कें 30 वें आदेश, खंड 2 के द्वारा लगभग पहली शताब्दी में रोम के कैथोलिक पियरों को संसद में पैतृक आधार पर मिलने वाली सदस्यता से वंचित कर दिया गया था।

8. इसी कानून के द्वारा रोम के कैथोलिकों को हाउस आफ कामन्स में सदस्यता से वंचित कर दिया गया था।

9. रोम के कैथोलिक ईसाइयों को अनेक कानूनों के द्वारा चर्च के अधिकारियों को अपनी संपत्ति का अधिकार हस्तांतरित करने से वंचित कर दिया गया था, जो कानून के तहत यहूदियों तक को मिला हुआ था।

10 यद्यपि महामहिम की जल सेना और थल सेना में अधिकांश लोग कैथोलिक थे, तब भी किसी भी व्यवस्था में उन्हें धार्मिक सुविधाएं आदि नहीं दी गई थीं, लेकिन यदि वे उन धार्मिक रीतियों का पालन करने से अस्वीकार कर देते जो राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त गिरजाघरों द्वारा निश्चित की गई थी, तब उन्हें भारी से भारी दंड और यातना दी जा सकती थी। सेना के नियम के खंड 1 में यह व्यवस्था थी कि यदि कोई सैनिक डिवाइन सर्विस और सर्मन के समय अनुपस्थित रहता है, तब पहली बार के अपराध स्वरूप उसके वेतन में से एक शिलिंग जब्त कर लिया जाएगा। अगर वह दूसरी बार या बार-बार अपराध करता है, तब हर बार एक शिलिंग जब्त करने के अतिरिक्त उसे जेल की सजा भी भुगतनी पड़ेगी। इस कानून की धारा 2 और धारा 5 के तहत यह भी विधान किया गया कि अगर वह अपने से ज्येष्ठ अधिकारी को किसी विधि-सम्मत आदेश की अवमानना करता है (और निश्चय ही अगर वह डिवाइन सर्विस और सर्मन के समय उपस्थित रहने के बारे में अपने ज्येष्ठ अधिकारी के आदेश की अवमानना करता है) तब उसे मृत्यु-दंड या और कोई दंड, जैसा भी जनरल कोर्ट मार्शल द्वारा दिया जाए भुगतना पड़ेगा।

11. महामहिम के अन्य प्रजाजनों की भांति रोम के कैथोलिक ईसाइयों को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त धर्म का समर्थन करना पड़ेगा। इस प्रकार उन्हें दो धर्मों की विधियों का पालन करना पड़ेगा। निश्चय ही वे इस संबंध में कोई उज्र नहीं करते थे, लेकिन वे यह अनुभव करते थे कि उनकी यह शिकायत उचित ही है कि उनके धर्म को वैसी मान्यता प्राप्त नहीं है, जैसी कि प्रोटेस्टेंट धर्मावलंबियों को प्राप्त है।

12. अस्पतालों व फैक्टरियों में और अन्य सार्वजनिक स्थानों पर जब कैथोलिक पादरी रोटी और कुछ पेय बांटने आते हैं, तब गरीब कैथोलिक बच्चों को घुसने नहीं दिया जाता और रोम के गरीब कैथोलिक

ईसाइयों के बच्चों को उनके माता-पिता के सामने कभी-कभी प्रोटेस्टेंट स्कूलों में जबरदस्ती डाल दिया जाता है। कैथोलिक ईसाइयों की तरह अस्पृश्यों को भी बहिष्कृत किए जाने की यंत्रणा भुगतनी पड़ती है।

II

['निम्नलिखित निबंध की मूल अंग्रेजी पाठ की प्रति श्री एस.एस.रेगे से प्राप्त हुई थी। चूंकि यह 'नीग्रो और गुलाम-प्रथा' (इस अध्याय की योजना के विषयों में से एक विषय) के बारे में है जिस पर उक्त विवेचन में कोई चर्चा नहीं हुई है, अतः इसे यहां सम्मिलित किया गया है—संपादक]

ऐसा लगता है कि विधाता ने अफ्रीका महाद्वीप के साथ स्थाई रूप से संधि कर उसके भाग्य में लिख दिया है कि वह एशिया और यूरोप के स्वतंत्र और सभ्य निवासियों के लिए गुलामों की एकमात्र जन्मस्थली रहेगा। अमरीका में यूरोपियनों द्वारा गुलाम के रूप में नीग्रो का आयात शुरू करने के पूर्व अरब निवासियों द्वारा एशिया में नीग्रो लोगों का आयात किया जाता था। हालांकि स्थिति यही थी। लेकिन अमरीका में और अंग्रेजों की नई बस्तियों में नीग्रो लोगों को किस तरह गुलाम बनाकर रखा जाता था, इसका बड़ा ही कारुणिक इतिहास है, जिसे सुनकर लोग एशिया में गुलाम के रूप में नीग्रो लोगों के आयात की कथा को भूल जाते हैं, और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि अमरीका में नीग्रो लोगों का यूरोप के निवासी किस प्रकार आयात करते थे, यह सब एक बहुत ही वीभत्स कार्य होता था। यह आयात 16वीं शताब्दी के पहले दशक में शुरू हुआ और 19वीं शताब्दी के मध्य तक चला।

कोलंबस जब पहली बार 1492 में बहामा द्वीप पर पहुंचा, तब उसके बाद आधी शताब्दी में स्पेनवासियों ने मेक्सिको से पेरु होते हुए युरुगुए तक के विशाल भू-भाग को जीत लिया था और उन्होंने अंशतः इस पर कब्जा भी कर लिया था। इसमें बड़े-बड़े वेस्ट इंडियन द्वीप भी शामिल थे। पुर्तगालियों ने ब्राजील में 1531 में अपनी बस्तियां बसानी शुरू की थीं। पुर्तगालियों और स्पेनवासियों ने यहां आते ही अपने-अपने अधीन के क्षेत्रों की प्राकृतिक संपदा का दोहन करना शुरू कर दिया, मुख्य भू-भाग में स्थित सोने और चांदी की खानों का पता लगाना और उन्हे खोदना शुरू कर दिया और द्वीपों की उपजाऊ भूमि पर तम्बाकू, नील और गन्ने की खेती शुरू

की। लेकिन उनको तुरंत अपेक्षित संख्या में श्रमिकों की पूर्ति की समस्या का सामना करना पड़ गया। उन्हें पर्याप्त संख्या में श्रमिक चाहिए थे। वहां पर श्वेत श्रमिकों की मजदूरी ज्यादा थी और यूरोपवासी वहां की उष्णकटिबंधीय तेज धूप बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। अतः वहां यूरोपवासियों को स्वयं काम करने में कष्ट होता था। वहां पर गैर-यूरोपीय श्रमिक के रूप में वहां के स्थानीय लोग ही उपलब्ध थे। इस भू-भाग को जीतने के दौरान पुर्तगालियों और स्पेनवासियों ने अधिकांश इंडियन (स्थानीय) लोगों का संहार किया था। इन आक्रमणों से डरकर बहुत से इंडियन लोग भागकर पहाड़ों और जंगलों में जाकर छिप गए थे। जो भी उपलब्ध हुए, उन्हें गुलाम बना दिया गया और खानों में खुदाई के काम पर लगा दिया गया। पुर्तगालियों और स्पेनवासियों के कोड़ों की मार खाकर और उनसे खानों और खेतों में जिस निर्दयता से अनथक काम लिया जाता था, उससे वहां के स्थानीय निवासी बीमार पड़ जाते और मर जाते थे।

दक्षिणी अमरीका के आरंभिक स्पेन के विजेता कनक्विजटेडर के नाम से जाने जाते थे। ये कनक्विजटेडर निकालेस दि ओवेडो के नेतृत्व में, जो कोलंबस के तुरंत बाद यहां आया था, अपने साथ बात्रोलोमे दि लस कसास नामक एक नवयुवक पादरी को ले आए। यह पादरी अपने पवित्र आचरण के लिए विख्यात था। लस कसास पर कोर्ट आफ स्पेन में यह आरोप लगाया गया कि वह इन इंडियन (स्थानीय) लोगों के साथ इस आशा से स्नेहपूर्ण व्यवहार करता था कि वह इनको पवित्र ईसाई धर्म में दीक्षित कर लेगा। लस कसास मेक्सिको का प्रथम बिशप था। लस कसास ने अपने उस कर्तव्य का पालन करते हुए जिसके लिए उस पर आरोप लगाया गया था, हाईती में कनक्विजटेडरों द्वारा वहां के इंडियन निवासियों पर किए जाने वाले निर्दयतापूर्ण व्यवहार को अपनी आंखों से देखा था और जीवन-पर्यन्त हाईती के बचे-खुचे बेचारे इंडियनों की, जिन्हें कैरीबियन कहा जाता था, उनके मालिकों के हाथों नष्ट होने से रक्षा की। कैरीबियन लोग विनम्र, सीधे-सादे और मिलनसार नस्ल के थे। जब कोलंबस ने उनका पता लगाया था, तब उनकी संख्या 1,000,000 से कम नहीं थी। ये विभिन्न राज्यों में बंटे हुए थे। इन राज्यों में इनके प्रमुख, जिन्हें कैशीक कहा जाता था, शांतिपूर्वक राज्य करते थे। कोलंबस के बाद स्पेन के जो साहसी लोग यहां आए, उनके

सुनियोजित अत्याचारों के कारण इनकी संख्या मुश्किल से 60,000 रह गई। यह कहा जाता है कि सभी गांवों के लोगों ने अन्य लोगों को भी आमंत्रित कर आत्महत्या कर ली, क्योंकि उनके द्वारा किए जा रहे नरसंहार और क्रूर अत्याचार का और कोई निदान नहीं था। लस कसास ने आत्मदाह की अनेक घटनाओं को स्वयं देखा था। लस कसास ने इन घटनाओं को लेकर क्षोभ व्यक्त किया। लेकिन उसका विरोध करना व्यर्थ था और उसके उस विरोध का निष्फल होना निश्चित था। जंगलों की सफाई, जमीन की जुताई और खानों की खुदाई तो होनी ही थी। इसके बिना ईश्वर-प्रदत्त राज्य मनुष्य के लिए स्वर्ग नहीं बन सकता था। लस कसास ने इसे अनुभव कर लिया था। लेकिन उसे इस बात की बड़ी चिंता थी कि अगर यह सब कार्य होते हैं, तब यहां के इंडियनों को कितने कष्टों को भोगना पड़ेगा। उसकी दया की भावना ने उसे नीग्रो लोगों के निःशुल्क आयात की स्वीकृति देने के लिए किंग आफ स्पेन को प्रार्थना-पत्र भेजने के लिए प्रेरित किया। स्पेन की सरकार ने 1511 में राजाज्ञा की कि भारी संख्या में नीग्रो लोगों को इस नई दुनिया में ले जाया जाए। इसके अनुसार माल की तरह नीग्रो लोगों से लदे जहाज इस नई दुनिया को मनुष्य का स्वर्ग बनाने के लिए यहां आए। कुछ वर्षों तक यहां के इंडियनों और नीग्रो लोगों, दोनों ने साथ-साथ मिलकर कनक्विजटेडरों के अधीन काम किया। इंडियनों की तुलना में नीग्रो लोगों की काठी मजबूत सिद्ध हुई। एक कनक्विजटेडर का कथन है कि जब उसने चार ब्रिगोटाइनों के लिए जो अटलांटिक महासागर और प्रशांत महासागर के बीच इस्थमस (जलसंधि) से होकर जाते थे, लकड़ी के लट्ठे भरने का काम किया तब उसने सैकड़ों इंडियनों और तीस नीग्रो लोगों को इस काम पर लगाया था। अंत में उसे पता लगा कि इस काम में पांच सौ इंडियनों की मृत्यु हो गई और तीस के तीस नीग्रो वैसे के वैसे ही बच गए। ये नीग्रो लोग मरने से बच ही नहीं गए, बल्कि इतने हृष्ट-पुष्ट हो गए कि लोगों की तो यह आम धारणा-सी बन गई कि 'जब तक नीग्रो को फांसी नहीं दे दी जाती, तब तक वह नहीं मर सकता, क्योंकि अभी तक इनमें से कोई भी कमजोर होकर मरता नहीं सुना गया है।'

नीग्रो लोगों ने अपने व्यवहार और आचरण से यह प्रमाणित कर दिया कि इंडियन लोगों की अपेक्षा वे अधिक उपयोगी साधन हैं। इस कारण इंडियन लोगों को तो छोड़ दिया जाता था और श्रमपूर्ण कार्य के लिए नीग्रो

लोगों को प्राथमिकता दी जाती थी। ऐसा इसलिए होता था कि विधाता ने इंडियनों को कम और नीग्रो लोगों को अधिक मजबूत बनाया है। इसका परिणाम यह हुआ कि इंडियन लोग तो गुलाम होने से बच गए, लेकिन नीग्रो लोगों के भाग्य में वह वस्तु आ गई जो कनक्विज़टेडर उन पर लागू करना चाहते थे – एक ऐसा भाग्य जिसे अपनाने के लिए पवित्र और दयालु हृदय वाले पादरी लस कसास ने उन्हें आमंत्रित किया था और जिसके योग्य होने के बारे में नीग्रो लोगों ने अपने सामर्थ्य को स्वयं सिद्ध कर दिया था।

जब लोगों को यह पता चल गया कि 'चार इंडियनों की अपेक्षा एक नीग्रो ज्यादा काम करता है,' तब नीग्रो लोगों का व्यापार करने के लिए तुरंत एक नियमित मंडी खुल गई। पुर्तगालियों ने अफ्रीका के पश्चिमी तट पर जो मंडी स्थापित की, उससे एकदम मुनाफा होने लग गया और यह स्वाभाविक था, क्योंकि नई दुनिया की अपार संपत्ति का उपयोग नीग्रो लोगों के श्रम के बिना असंभव था। लोग इस नए व्यापार में इस तरह तल्लीन हो गए कि पूर्व की ओर जाने के लिए नए रास्ते की खोज का काम जो शुरू ही हुआ था, वह छोड़ दिया गया।

व्यापार के इस नए क्षेत्र में भाग लेने के लिए यूरोप के विभिन्न देशों में कड़ा मुकाबला था। नई दुनिया से संपत्ति का जो प्रवाह हो रहा था, उस पर स्पेन और पुर्तगाल के एकाधिकार के बारे में पोप की ओर से एक आदेश जारी हुआ। अंग्रेजों और डचों को यह आशंका हो गई कि अमरीका के संसाधनों पर इस प्रकार एकाधिकार के हो जाने से सारे यूरोप को खतरा पैदा हो जाएगा और वह इसे न होने देने के बारे में दृढ़ थे।

अंग्रेजों ने अपने राष्ट्र के लाभ के लिए इस व्यापार को अपने हाथ में लेने के लिए ठोस रूप से पहल की। इस संबंध में पहला सौदा 1553 में हुआ, जब अफ्रीका के तट से चौबीस नीग्रो लाए गए और उन्हें चुपचाप अंग्रेजों के हाथ बेच दिया गया था। इनमें सबसे ज्यादा साहसी और जो इतिहास में सबसे बड़े निर्दयी आदमचोर के रूप में कुख्यात हुआ, जॉन हाकिन्स नाम का अंग्रेज था। एलिजाबेथ प्रथम से राजाज्ञा प्राप्त कर '*जीसस*' नामक एक बड़ा जहाज लेकर वह अफ्रीका से नीग्रो लोगों को लाने के लिए समुद्री यात्रा पर निकल पड़ा। उसने इन नीग्रो लोगों को वहां से लाकर स्पेन की बस्तियों में बेच डाला। इसके बाद स्पेन के एकाधिकार को समाप्त

करने का दृढ़ निश्चय कर सर फ्रासिंस ड्रेक ने हाकिन्स का अनुसरण किया। इन साहसपूर्ण यात्राओं में एक-दूसरे के जहाजों से माल की चोरी की घटनाओं को लेकर अंतर्राष्ट्रीय विवाद उठ खड़े हुए, जिनकी चरम परिणति स्पेन के युद्धपोतों के बेड़े के विरुद्ध संघर्ष हुआ और उसे नष्ट कर डाला गया।

ध्यान देने की बात यह है कि इन झगड़ों में प्रत्येक राष्ट्र निर्लज्जतापूर्वक इस बात का दावा करता था कि उसके राष्ट्रिकों द्वारा नीग्रों लोगों को दूसरे के जहाजों पर से उड़ाकर अपने जहाजों में भर लेने का काम व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं था, बल्कि सार्वजनिक हित में था, जिसे उनकी सरकार से समर्थन प्राप्त था।

ऐसा लगता है कि गुलाम बनाने के उद्‌देश्य से नीग्रो लोगों को लाने के लिए *'जीसस'* नामक जहाज के उपयोग में निहित विडंबना पर्याप्त नहीं थी, इसलिए एक और घटना हुई जो उससे कम विडंबनापूर्ण नहीं थी। यह घटना थी *'मेफ्लावर'* नामक जहाज द्वारा प्लाईमाउथ रॉक पर पिलग्रिम फादर्स (अंग्रेज प्यूरिटन मतावलंबी पादरी लोगों का दल) के आगमन के साथ-साथ बारनेकल और अन्य समुद्री क्षतिकारक जीवाश्मों से क्षतिग्रस्त ब्रिग पोत (दो मस्तूल वाला जहाज) पर बीस नीग्रो लोगों का वर्जीनिया में जेम्सटाउन में आगमन। यह जहाज जेम्स नदी तक गया और इसमें ये नीग्रो अमरीका में वर्जीनिया की प्रथम सफल बस्ती के सभ्य साहसिकों के उपयोग के लिए लाए गए थे। इस प्रकार अमरीका में नीग्रो लोगों और पिलग्रिम फादर्स को लाया गया, जो वहां एक ही समय में आए। पिलग्रिम फादर्स का उद्देश्य उनकी स्वतंत्रता की सुरक्षा करना और नीग्रो का उद्देश्य अपनी स्वतंत्रता को गंवाना था। जहां तक संख्या का संबंध है, अमरीका की इन नई बस्तियों की जनसंख्या में नीग्रो लोगों की कुछ समय तक प्रमुखता रही। वास्तविक अर्थ में अमरीका और उसके द्वीपों को मुख्यतः अफ्रीका से आए लोगों और नीग्रो लोगों ने बसाया। 1800 से पहले तक अमरीका में जितने नीग्रो लोगों को लाया गया, उनकी संख्या वहां पर सभी यूरोपियनों की कुल संख्या से बीस गुनी से भी अधिक थी। यह अपरिहार्य था। यूरोप की जनसंख्या कम थी। यह लंबी-लंबी लड़ाइयों के कारण और भी घट गई थी, और यह अपनी पिछड़ी हुई संस्कृति से उभर रहा था। यहां जो नीग्रो आयात किए गए, उनकी हैसियत बहुत समय तक अनिश्चित रही। डच लोग जिन बीस नीग्रो

लोगों को लाए थे और जो जेम्सटाउन में उतरे थे, उन्हें बस्ती में तुरंत गुलाम की संज्ञा नहीं दी गई। उन्हें उसी आधार पर स्वीकार किया गया, जैसे कि वे ठेके पर रखे गए नौकर हों। यह पता चला है कि वर्जीनिया नामक बस्ती के 1624 और 1625 के मस्टर रोलों में तेईस नीग्रो लोगों के नाम दर्ज थे, जिनमें से सभी नीग्रो उसी श्रेणी के श्वेत लोगों की तरह *'सेवक'* के रूप में दर्ज थे। यह भी लिखा मिलता है कि बीस नीग्रो लोगों के आगमन के चौंतीस वर्ष बाद इनमें से एक एंथनी जॉनसन नामक नीग्रो ने न्यायालय से अपने समर्थन की पुष्टि के संबंध में यह आदेश प्राप्त किया कि जॉन कैस्टर नामक एक दूसरे नीग्रो की सेवाओं पर उसका स्थाई अधिकार है। गुलामी की परिभाषा पचास वर्ष तक निश्चित नहीं हुई और जिन उपायों से यह निश्चित हुई, वे बहुत धीरे-धीरे किए गए।

शुरू-शुरू में सेवा के संबंध में एक कानून होता था जो सभी सेवकों पर चाहे वे नीग्रो हों या श्वेत, लागू होता था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों नीग्रो सेवकों और श्वेत सेवकों के साथ व्यवहार में अंतर किया जाने लगा। यह भेद इन बाहरी और विधर्मी लोगों के भय के कारण किया जाने लगा जो परंपरा और रीति-रिवाजों में रचते-पचते जा रहे थे। इस भय के कारण धीरे-धीरे अफ्रीकावासियों की हैसियत में संशोधन हुआ और जो नीग्रो सेवक कहे जाते थे, उन्हें नीग्रो गुलाम कहा जाने लगा। बाद में ज्यों-ज्यों स्थिति बदलती गई, त्यों-त्यों सेवकों से संबंधित कानून और रीति-रिवाजों में संशोधन होते रहे, और अमरीका की इन विदेशी बस्तियों में नीगो लोगों को गुलाम के रूप में रखने की प्रथा का विकास होता गया। सेवक से गुलाम के रूप में यह अंतरण दो चरणों में पूरा हुआ। इस अंतरण का पहला चरण वह है, जब नीग्रो लोगों को आजन्म सेवक के रूप में रखने की प्रथा को मान्यता दी गई। जैसा कि कहा जाता है, गुलाम होने का लक्षण यह नहीं है कि किसी की राजनैतिक या नागरिक स्वतंत्रता छिन जाती है, बल्कि इस क्षति का स्थाई और अंतिम होना है जो चाहे स्वैच्छिक हो या अनैच्छिक हुई हो। यह अन्य प्रकार के दासत्व, जैसे मध्य-कालीन गुदस्तादार (वैसेलेज) और अर्ध-गुलाम (विलियनेज) तथा आधुनिक खेतिहर गुलाम (सर्फडम), और द्रव्य के बजाय मात्रानुसार तकनीकी सेवक (सर्वीट्यूड) से भिन्न होता है जो स्थान या काल के आधार पर सीमित होता है। खेती करने वाले मालिक अपने श्वेत सेवकों की

सेवा-अवधि बढ़ाने के प्रयत्न में तो सफल नहीं हो सके, लेकिन इन 'अश्वेत' लोगों के मामले में वे सफल हो गए। उनके प्रयत्नों को सार्वजनिक आधार पर समर्थन मिला क्योंकि इन 'अश्वेत' लोगों के बारे में यह धारणा हो गई थी कि अगर इन्हें नियंत्रण में नहीं रखा गया तो ये खतरनाक हो जाएंगे।

नीग्रो सेवकों को नीग्रो गुलाम के रूप में बदलने के लिए दूसरा उपाय यह किया गया कि गुलाम नीग्रो मां की अवधि को बढ़ा दिया गया और उसके बच्चों को भी गुलाम बना दिया गया। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि नीग्रो मां को अपने अधीन गुलाम बनाकर रखने से उसके बच्चों पर भी उसके मालिक का नियंत्रण हो जाता था। यह स्पष्ट है कि इन बच्चों के मां-बाप जीवन-भर गुलाम रहने के कारण अपनी संतान के पालन-पोषण के लिए कोई ठोस व्यवस्था नहीं कर सकते थे, और इनका पालन-पोषण भी मालिक पर निर्भर करता था। इस कारण इन बच्चों पर स्वतः मालिक का अधिकार हो जाता था। यह परिवर्तन कानूनी रूप में आने के बहुत पहले रीति-रिवाज के रूप में हो गया था। कानून के रूप में इसे अमरीका के विभिन्न राज्यों में 1662 से 1741 के बीच लागू किया गया।

इस प्रकार नीग्रो गुलाम बन गए, जो मूलतः केवल सेवक होते थे। ध्यान देने की बात यह है कि अफ्रीका में, जो नीग्रो लोगों की जननी रहा है, गुलाम-प्रथा वहां की मूल संस्था थी और बहुत पुरानी थी। दासत्व की सबसे अधिक प्रचलित विधियां ये थीं– (1) जन्म से ही गुलाम होने से, (2) कर्ज के बदले गुलाम के रूप में बिक जाने से, (3) युद्ध में पकड़े जाने पर गुलाम बना दिए जाने से, और (4) आपसी वैर या लोभ या लाभ से प्रेरित होकर किसी का अपहरण कर उसे गुलाम के रूप में बेंच दिए जाने से। नीग्रो वस्तुतः गुलाम-प्रथा से पूरी तरह हिले-मिले हुए थे और उन्हें गुलाम और मालिक होने, दोनों प्रकार का स्वयं अनुभव था। इसलिए जब किसी नीग्रो को जबरदस्ती मालिक से गुलाम बना दिया जाता और वह मालिक नहीं रह जाता था, तब किसी के हृदय में उसके प्रति वैसी ही सहानुभूति नहीं उत्पन्न होती थी। लेकिन अगर इसे अपने किए का उचित दंड भी मान लिया जाए तो भी उस नई दुनिया में जहां उसे लाकर रखा जा रहा है, गुलाम के रूप में उसकी स्थिति उन कष्टों के संदर्भ में जो उसे उसके नए और विदेशी मालिक देते थे, थोड़ा-बहुत क्रोध तो पैदा कर ही सकती थी।

नई दुनिया में जहां नीग्रो लोगों को गुलामी की प्रथा में ढाला जाने लगा, उन्हें कितने और किस प्रकार के कष्ट दिए जाते थे, यूरोप और एशिया के वासियों को उनकी कल्पना करना संभव नहीं। इन कष्टों का वर्णन इन्हें तीन शीर्षकों में बांटकर किया जा सकता है— पकड़े जाते समय का कष्ट, यात्रा में दिया गया कष्ट और जब उनसे काम कराया जाता है तब दिया जाने वाला कष्ट। पहला कष्ट तो उस प्रक्रिया में होता था, जिस प्रक्रिया द्वारा गुलाम बनाने के लिए नीग्रो लोगों की धर-पकड़ की जाती थी। शुरू-शुरू में तट पर अचानक जहाज के पहुंचने पर उनकी धर-पकड़ की जाती थी। लेकिन बाद में नीग्रो जहाजों की टोह लेना और भागकर जंगलों व झाड़ियों में छिप जाना सीख गए। बाद में ये समुद्री व्यापारी भीतरी इलाके में कभी-कभी आ जाते और वे सामान्यतः स्थानीय व्यापारियों या छोटा-मोटा धंधा करने वालों के साथ धंधा करने लगे। वे यूरोप से सस्ता माल, जैसे कपड़ा, नकली मोती, लोहे से बना सामान, छोटी-बड़ी बंदूकें और कारतूस, शराब आदि लाते और उसके बदले उनसे गुलाम और उनके कबीले के मालिकों को खरीद लिया करते। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि शक्तिशाली कबीले के सरदारों ने इस प्रकार के माल, खासतौर से बंदूकों या शराब के प्रति कभी अनाकर्षण प्रकट किया हो या ऐसी वस्तुओं के प्रति वे कभी आकृष्ट न हुए हों। यह देखा गया कि छोटे से छोटे अपराध पर भी लोगों को दंड स्वरूप गुलाम बना लिया जाता था, निजी स्वार्थ के लिए कबीलों के बीच परस्पर लड़ाइयां, शांति के समय औरतों और बच्चों का अपहरण अफ्रीकी जीवन का लगभग अभिन्न अंग बन गया और ज्यों-ज्यों भीतरी भू-भाग में व्यापार फैलने लगा, त्यों-त्यों इन घटनाओं का सिलसिला भी बढ़ता गया।

दूसरा कष्ट इन नीग्रो लोगों को तब भोगना पड़ता, जब वे अमरीका ले जाए जाते थे। इनके व्यापारी इनको खरीदने के बाद एक टोली में तट पर पैदल चलाते। इसमें आदमियों, औरतों व बच्चों का कोई ख्याल नहीं किया जाता था। कभी-कभी इन्हें काफी दूर तक चलना पड़ता। आमतौर पर इनके पैरों में बेड़ियां पड़ी होतीं, जिससे वे बचकर भागने न पाएं। कभी-कभी इनके गले में भी छल्ला (तौक) डाल दिया जाता था। यह छल्ला एक छड़ से एक लंबे पोल से बांध दिया जाता था, जो 'स्लेव स्टिक' कहलाती थी। इन्हें अपने-अपने सिर पर खाने की सामग्री और रास्ते के

लिए जरूरी अन्य सामग्री, हाथी दांत या अन्य स्थानीय रूप से उपलब्ध माल भी ढोना पड़ता था, जो उनके खरीददार ने खरीदा होता था। यात्रा की यह कठोरताएं कमजोर नीग्रो लोगों को बहुत भारी पड़तीं। जो गुलाम रास्ते में बीमार पड़ जाते, उन्हें मौत के घाट उतार दिया जाता या उन्हें अपनी मौत मरने के लिए वैसा ही छोड़ दिया जाता। जिन रास्तों से ये गुलाम अक्सर ले जाए जाते थे, उन रास्तों पर इधर-उधर नर-कंकाल या उसकी हड्डियां पड़ी मिलतीं। तट पर पहुंचने पर इनको गुलामों वाले जहाजों पर भर दिया जाता, जो इनको ले जाने के लिए खासतौर से बनाए गए होते थे। जहाज के अंदर माल रखने वाली जगह को तीन-तीन फुट के अंतर पर आड़े तख्ते रख, बांट दिया जाता था, जिन्हें 'डेक' कहते हैं। इनके बीच सीढ़ी होती थी। इस तरह जो खाने बने होते, उनमें इन गुलामों को दो-दो की संख्या में बेड़ी पहना कर लिटा दिया जाता था। आदमियों और औरतों को अलग-अलग रखा जाता था। जहाज में जितने ज्यादा गुलाम भरे होते, उतना ज्यादा लाभ होता। इसलिए इनको ठूंस-ठूंसकर इस तरह भरा जाता कि ये मुश्किल से करवट ले सकते थे। एक सौ पचास टन वाले जहाज में छह सौ तक गुलाम भरे जाते थे। अफ्रीका के तट से ब्राजील तक का रास्ता छोटा था, लेकिन यहां से वेस्ट इंडीज तक के तथाकथित 'मिडिल पैसेज' को जो इन गुलामों के वितरण का मुख्य केंद्र था, खराब मौसम और तेज हवाओं के कारण तय करने में कई हफ्ते लग जाते। अगर मौसम अच्छा होता, तब गुलामों को ऊपर 'डेक' पर लाया जाता और उन्हें व्यायाम के लिए नाचने को कहा जाता या उन्हें जबरदस्ती नचाया जाता था। ये अक्सर बीमार रहते और जो लोग खाना बंद कर देते, उनको जबरदस्ती खिलाने के औजार इन जहाजों पर रहते। लेकिन 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्वीकार किया गया कि औसतन इन गुलामों में से इनकी संख्या का छठा भाग इस समुद्री यात्रा में ही मर जाता था। जब यह यात्रा खत्म होती, तब इन गुलामों की जांच होती और ये बेचे जाने के लिए तैयार किए जाते। तूफान या इनको ठीक तरह न रखने पर इनके जो जख्म हो जाते, उनकी मरहम-पट्टी कर दी जाती। लेकिन जहां तक मुमकिन होता, इन जख्मों को छिपा दिया जाता। लेकिन बंदरगाहों पर एजेंट लोगों की अक्सर यही शिकायत रहती कि इन पार्सलों में जो नीग्रो माल आया है, वह 'खराब', 'घटिया' या बुरी तरह से घिसा-पिटा है। आखिर में जहाज पर या खुले बाजार में इन गुलामों को हर-एक का नाम बताकर या बोली लगाकर बेचा

जाता था। 18 वीं शताब्दी में एक हट्टे-कट्टे नीग्रो की कीमत बढ़कर 60 पौंड तक हो गई थी। बीमार और घायल नीग्रो लोगों को कमजोर नीग्रो स्त्रियों और बच्चों के साथ मिलाकर बचे-खुचे माल की तरह सस्ते दामों में बेच दिया जाता था। आखिर में जब ये नीग्रो खेतों तक पहुंचते, तब उन्हें शेष जीवन में लिखे भोग को भोगने के लिए तैयार होने से पहले एक और संकट से गुजरना पड़ता था। काम पर लगाए जाने पर पहले कुछ महीनों की अवधि पक्का होने की अवधि कही जाती थी, इस दौरान नए गुलामों में से औसतन एक तिहाई गुलाम शरीर और मन से नई जलवायु या खाना-पीना या परिश्रम में अपने को अनुकूल नहीं कर पाते और वे मर जाते थे। कुल-मिलाकर इस प्रकार मरने वालों की—अर्थात जब इन गुलामों को पकड़ने के लिए लड़ाइयां लड़ीं जातीं या धावे मारे जाते थे, जब उन्हें समुद्र-तट तक पैदल चलाया जाता था, जब वह 'मिडिल पैसेज' से होकर जाते थे और जब उन्हें पक्का किया जाता था—संख्या के बारे में स्थूल रूप से यह अनुमान लगाया गया है कि हर-एक अफ्रीकी नीग्रो पर जब उसे पक्का कर दिया जाता था, एक नीग्रो की मृत्यु होती थी।

तीसरे प्रकार का कष्ट तब भोगना पड़ता था, जब पक्के बनाए गए नीग्रो को जीवन की वास्तविक परिस्थिति से जूझना पड़ता था। नीग्रो गुलामों की पद्धति में उसके मालिक को दो प्रकार के अधिकार मिले होते थे, जो निर्विवाद होते थे। ये अधिकार थे—स्वामित्व का अधिकार और दंड देने का अधिकार। 'स्वामित्व का अधिकार' का बड़ा व्यापक अर्थ होता था। इस अधिकार के तहत मालिक को अपने नीग्रो गुलाम का सेवक के रूप में इस्तेमाल करने का ही अधिकार प्राप्त नहीं था, बल्कि वह उसे सेवा करने के लिए किसी दूसरे को बेच भी सकता था, वह पुश्तैनी आधार किसी दूसरे को दे सकता था। वह अपनी मर्जी के अनुसार जो चाहे कर सकता था। अधिकार की इस अवधारणा का आशय 'उस गुलाम के व्यक्तित्त्व के अधीन की गई संपत्ति के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करना था।' संपत्ति के रूप में गुलाम की अवधारणा के कारण वह मालिकों द्वारा अपने कर्ज चुकाने की स्थिति में देय या अधिकृत किए जाने योग्य हो गया। अगर इस प्रकार गुलाम मुक्त भी हो जाए, तो भी वह अपनी मुक्ति के पहले अपने मालिक के द्वारा लिए गए ऋण को चुकाने के लिए इस्तेमाल हो सकता था। गुलामों के व्यक्ति के बजाय संपत्ति के रूप में स्वीकार हो जाने पर, उनकी कानूनी और

नागरिक के रूप में स्थिति और भी सीमित हो गई। वह स्वयं कोई संपत्ति न रख सकता था, और न उसका कोई उपयोग ही कर सकता था। यह रोम के कानून के अनुसार नहीं था, जहां गुलामों को अपनी संपत्ति बनाने व रखने का अधिकार था। इसे उसकी निजी संपत्ति (पिक्यूलियन) कहते थे। हालांकि यह सीमित अधिकार था, तो भी यह महत्वपूर्ण अधिकार होता था, क्योंकि यह इस तथ्य को प्रमाणित करता था कि रोम का कानून यह स्वीकार करता था कि संपत्ति होते हुए भी गुलाम का अपना व्यक्तित्व है। चूंकि नीग्रो का गुलाम के रूप में कोई व्यक्तित्व नहीं है, इसलिए वह न तो व्यापार, और न ही अपना विवाह कर सकता था। मालिक द्वारा गुलाम को दंड दिए जाने के अधिकार की व्याख्या नीग्रो के प्रसंग में बड़े ही क्रूर होकर की जाती थी। 1829 में नार्थ कैरोलीन राज्य के न्यायालय में एक मामले में मुख्य न्यायाधीश ने एक मालिक को जिस पर अपने गुलाम को पीटने का आरोप था, बरी करते हुए यह व्याख्या की :

> यह कहना गलत है कि मालिक और गुलाम के बीच के संबंध माता-पिता और उनकी संतान के बीच के संबंध जैसे होते हैं। जब माता-पिता अपने पुत्र को कुछ सिखाते हैं, तब उनका उद्देश्य उसे इस योग्य बनाना होता है कि वह एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में अपना जीवन-यापन कर सके, और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे उसे नैतिक और बौद्धिक सीख देते हैं। गुलामों के संबंध में स्थिति भिन्न होती है। गुलाम को नैतिक सीख देने का तो अर्थ ही नहीं है। गुलामों की व्यवस्था का उद्देश्य मालिक को लाभ और उसकी सुरक्षा होता है, उसके गुलामों का इससे भिन्न कोई अस्तित्व नहीं होता, उनमें अपने लिए कुछ करने का कोई सामर्थ्य नहीं होता, वे परिश्रम ही करते हैं, लेकिन उसका फल न तो उनको मिलता है, और न उनकी संतान को। ऐसे लोगों को क्या नैतिक सीख दी जा सकती है, जिससे उन्हें यह आश्वस्त किया जा सके कि उन्हें सहज भाव से या केवल अपने सुख के लिए परिश्रम करते रहना है, क्योंकि यह असंभव है और शायद ही कोई मूर्ख इसे अनुभव या स्वीकार करेगा, यह कभी सच नहीं हो सकता? ऐसी सेवाएं उसी से अपेक्षित हो सकती हैं, जिसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती, जो अपनी इच्छाओं को दूसरों की इच्छाओं की पूर्ति में समर्पित कर देता है। ऐसा अनुपालन तभी संभव है, जब शरीर और मन के ऊपर किसी

का पूर्ण अधिकार हो। इसके बिना अपेक्षित फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए मालिक को परम अधिकार होना चाहिए, जिससे गुलाम उसके प्रति पूर्ण समर्पित रहे।

दंड देने के बारे में मालिक के अधिकार की इस प्रकार की व्याख्या का अमरीका में प्रभाव यह हुआ कि न्यायपूर्ण दंड के फलस्वरूप यदि कोई नीग्रो कभी मर जाता, तो कानून उसे संयोग से हुई घटना मात्र मानता था। दंड देने के इस अधिकार का मालिकों ने कितनी निर्दयतापूर्वक प्रयोग किया वह 1787 में एंटीगिना के एक निवासी द्वारा लिखे गए पत्रों के उद्धरणों को पढ़कर अनुभव किया जा सकता है। लेखक कहता है :

नीग्रो लोगों को पौ फटते ही उठा दिया जाता है और बीस से साठ तक या उससे भी अधिक संख्या में टोलियां बनाकर उन्हें श्वेत निरीक्षकों की देख-रेख में काम पर लगा दिया जाता है। ये लोग यहां कभी स्कॉटलैंड से आकर ठेके पर मजदूर के रूप में काम करते थे, और अपनी लगन और मेहनत से इन बागानों में अक्सर हाकिम बन जाते थे। इन हाकिमों के नीचे इन नीग्रो लोगों से काम कराने वाले होते। ये लोग अधिकतर अश्वेत होते थे, या गोरी व काली नस्ल के भद्दी शक्ल के वर्णसंकर होते हैं। इनको काम पर होते समय कोड़े दिए जाते हैं, जिनसे वे लोगों को दंडित कर सकें, और उन्हें नीग्रो लोगों को जब कभी उन्हें काम में ढिलाई करते देखें, तब उन्हें इन्हीं कोड़ों से मारने का पूरा अधिकार होता है, उन्हें इस बात का कोई ख्याल नहीं रहता कि यह ढिलाई, सुस्ती या थक जाने के कारण है, न ही वे इस बात का ख्याल करते हैं कि नीग्रो की उम्र क्या है, या वह पुरुष है या स्त्री। बारह बजे उन्हें अंदर कर लिया जाता है (अर्थात काम पर से छुट्टी मिल जाती है), जिससे वे फिर काम करने के लिए हरे-भरे हो सकें, साढ़े बारह बजे घंटी बजती है तब वे बाहर निकल पडते हैं और अपने काम पर तब तक लगे रहते हैं, जब तक सूर्यास्त नहीं हो जाता।

******

इस द्वीप पर गुलामों को जो दंड दिया जाता है, वह तरह-तरह का और अत्यंत यातनापूर्ण होता है। ... इनमें एक है 'थंबस्कू', अर्थात अंगूठों को एक-दूसरे पर रखकर मशीन द्वारा दबाना जिससे मर्मान्तक

वेदना होती है। 'लोहे की नेकलेस' एक तरह का बड़ा छल्ला होता है, जिसे 'लॉक' करने के बाद गले में डाल दिया जाता है, अक्सर इसके बाद एक और छल्ला डाल दिया जाता है ... इसे गले में डाल देने के बाद पहनने वाला अपना सिर इधर-उधर मोड़ नहीं सकता है। इनके 'बूट' भी लोहे के लंबे पाइप सरीखे होते हैं, इनका घेरा पूरे चार इंच का होता है और वे घुटनों तक आते हैं। इन गुलामों को ये बूट अवश्य पहनने पड़ते हैं और इन्हें पहन कर ही काम करना पड़ता है। दोपहर के समय गले में लोहे के छल्ले और पैरों में लोहे के बूट पहने शहर की सड़कों पर अक्सर ये दिखाई पड़ जाते हैं ... 'स्पर' लोहे के छल्ले होते हैं, जो बूट जैसे ही होते हैं। इनमें तीन से चार इंच तक लंबी नुकीली छड़ें लगा दी जाती हैं और इन्हें आड़ा करके रखा जाता है। शरीर के चारों ओर सांकल पहना कर उसे ताले से जकड़ देना इन दलित प्राणियों को सताने का एक और तरीका है।

इन गुलामों के सभी मालिकों को एक की गलती के कारण एक जैसा समझना भयंकर गलती होगी। मालिकों के प्रति गुलामों का अक्सर दोस्ताना रवैया होता और इसी तरह गुलामों के प्रति मालिकों का रवैया भी कृपापूर्ण होता। जो भी हो, यह व्यवस्था पूर्णतः आर्थिक आधार पर आश्रित थी, जिसके कारण यह समझा जाता था कि मनुष्य का सृजन भी एक साधन के रूप में हुआ है और उसका इस्तेमाल मनुष्यता का ख्याल किए बिना किया जा सकता है।

इस बात को पुष्ट करने के लिए और अधिक उदाहरण देने की अब आवश्यकता नहीं है कि अतीत में भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी निम्न, पराधीन और अधिकार-विहीन वर्ग होते थे। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि पृथक वर्ग के रूप में यह पराधीन और अधिकार-विहीन वर्ग लुप्त हो गए और समाज का अभिन्न अंग बन गए। प्रश्न है, अस्पृश्यता क्यों कर नहीं लुप्त हुई?

इसके अनेक कारण हैं। इन पर अगले अध्यायों में चर्चा की जाएगी।

□□

9

हिंदू और सार्वजनिक विवेक का अभाव

जिन परिस्थितियों में हिंदुओं ने अस्पृश्यों के विरुद्ध हिंसा तक का सहारा लिया है, वे परिस्थितियां सभी को समान स्वतंत्रता की चाहत की रही हैं। अगर अस्पृश्य अपना जुलूस निकालना चाहते हैं, तब उन्हें हिंदुओं के द्वारा जुलूस निकालने पर कोई एतराज नहीं होता। अगर अस्पृश्य सोने और चांदी के जेवर पहनना चाहते हैं, तब हिंदुओं को भी वैसा ही अधिकार रहे, इस पर वे कोई एतराज नहीं करते। अगर अस्पृश्य अपने बच्चों को स्कूलों में दाखिला दिलाना चाहते हैं, तब वे हिंदुओं के बच्चों को शिक्षा की पूरी आजादी होने का विरोध नहीं करते। अगर अस्पृश्य कुएं से पानी भरना चाहते हैं, तब हिंदुओं के द्वारा पानी भरने के अपने अधिकार का उपयोग किए जाने पर उन्हें कोई आपत्ति नहीं होती। इन सबका कोई अंत नहीं। यहां इन्हें गिनाने की जरूरत नहीं है। सीधी-सी बात है। वह यह है कि अस्पृश्य जो स्वतंत्रता चाहते हैं, वह सिर्फ अपने लिए नहीं है, और वह हिंदुओं के समान स्वतंत्रता के अधिकार से भिन्न नहीं है। तब हिंदू ऐसी इच्छाओं को जो किसी को हानि नहीं पहुंचाती और जो पूर्णतः न्यायसंगत हैं, अमल में न आने देने के लिए हिंसा पर क्यों उतर आते हैं? हिंदू अपने अन्याय को न्यायसंगत क्यों मानता है? कौन यह इंकार कर सकता है कि अस्पृश्यों के साथ हिंदुओं के व्यवहार में जो कुछ अपकर्म होता है, उसे सामाजिक अपराध के अतिरिक्त और कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह केवल अन्याय नहीं है, यह केवल तिरस्कार नहीं है। यह मनुष्य की मनुष्य के प्रति घोर अमानवीयता है। अगर किसी डाक्टर के द्वारा मरीज का इसलिए इलाज न करना कि मरीज अस्पृश्य है, अगर हिंदुओं के एक गिरोह द्वारा अस्पृश्यों के घरों को जला डालना, अगर अस्पृश्यों के कुओं में मैला डलवा देना अमानवीय कार्य नहीं है, तब मैं सोचता हूं कि यह और क्या है? प्रश्न यह है कि हिंदुओं में विवेक क्यों नहीं है?

इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है। अन्य देशों में वर्ग आर्थिक और सामाजिक दृष्टि के आधार पर बने। गुलामों और खेतिहर गुलामों की धर्म में कोई व्यवस्था नहीं थी। इसकी अपेक्षा अस्पृश्यता मुख्यतः धर्म पर आधारित है, हालांकि इससे हिंदुओं को आर्थिक लाभ होता है। जब कभी आर्थिक या सामाजिक हित की बात होती है, तब कुछ भी पवित्र या अपवित्र नहीं होता। ये हित समय और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। गुलाम-प्रथा और खेतिहर गुलाम-प्रथा क्यों कर मिट गई और अस्पृश्यता क्यों कर नहीं मिटी, इसका यही स्पष्ट कारण है। दो अन्य प्रश्नों का भी यही उत्तर है। अगर हिंदू अस्पृश्यता का पालन करता है, तो यह इसलिए कि उसका धर्म उसे ऐसा करने का आदेश देता है। अगर उसकी इस स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध उठने वाले अस्पृश्यों का वह नृशंसतापूर्वक और अन्यायपूर्वक दमन करता है, तब उसका कारण उसका अपना धर्म है, जो उसे केवल इस बात की ही शिक्षा नहीं देता कि यह स्थापित व्यवस्था दैवी विधान है और इसलिए पावन है, बल्कि उस पर यह सुनिश्चित करने का कर्तव्य भी आरोपित करता है कि उसे इस स्थापित व्यवस्था को हर संभव उपाय से कायम रखना है। अगर वह मानवता की पुकार को नहीं सुनता, तब उसका कारण यह है कि उसका धर्म अस्पृश्यों को मानव समझने के लिए उसे बाध्य नहीं करता। अगर अस्पृश्यों को मारने-पीटने, उनके घरों को लूटने तथा जलाने और उन पर अन्य अत्याचार करते समय उसे अपने विवेक का कुछ भी ध्यान नहीं रहता, तब उसका कारण यह है कि उसका धर्म उसे इस बात की शिक्षा देता है कि इस सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा करने के लिए किया गया कोई भी कर्म पाप-कर्म नहीं है।

अधिकांश हिंदू कह सकते हैं कि ऐसा कहना तो उनके धर्म की हंसी उड़ाना है। इस आरोप का उत्तर देने का सबसे अच्छा उपाय हिंदू समाज के निर्माता मनु के कथन, जो उसके ग्रंथ *'मनुस्मृति'* के अध्यायों व श्लोकों में दिए गए हैं, उद्धृत करना है। मैंने जो कुछ कहा है, उसका अगर कोई खंडन करता है तो उसे अस्पृश्यता के विषय में मनु की निम्नलिखित व्यवस्थाओं को पढ़ना चाहिए :

1. इस पृथ्वी पर जो भी जातियां उस समुदाय से अलग रखी गई हैं जो मुख, बाहु, जंघा और (ब्राह्मण के) पैरों से जन्मी हैं, वे दस्यु

कहलाती हैं, जो चाहे म्लेच्छों (बर्बर जातियों) की भाषा बोलती हों या आर्यों की– (*मनु.,* 10.45.)

2. ये जातियां प्रसिद्ध वृक्षों और श्मशान भूमि के निकट या पर्वतों पर और झाड़ियों के पास निवास करें, (कुछ चिह्नों से) जानी जाएं और अपने विशिष्ट व्यवसाय से जीविकोपार्जन करें–(*वही,* 10.50.)
3. लेकिन चांडालों और श्वपचों के घर गांव के बाहर होंगे और उन्हें अपपात्र बनाया जाना चाहिए और उनकी संपत्ति कुत्ते और गधे होंगे –(*वही,* 10.51.)
4. मृतक के वस्त्र इनके वस्त्र होंगे, वे टूटे-फूटे बर्तनों में भोजन करेंगे, उनके गहने काले लोहे के होंगे और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते रहेंगे –(वही, 10.52.)
5. धर्म का आचरण करने वाला व्यक्ति इन लोगों के साथ व्यवहार न रखे और उनके व्यवहार उनके अपने ही समुदाय में होंगे और विवाह समान व्यक्तियों के साथ ही होंगे –(वही, 10.53.)
6. उनका भोजन (आर्य दाता के अतिरिक्त) अन्य के द्वारा टूटे-फूटे बर्तन में दिया गया होगा, रात्रि के समय वे गांवों और नगरों के आस-पास नहीं जाएंगे –(*वही,* 10.54.)
7. दिन में वे, राजा के द्वारा चिह्नों से अंकित हो जिससे वे अलग-अलग पहचाने जा सकें, अपने-अपने काम के लिए जाएंगे और उन व्यक्तियों के शवों को ले जाएंगे जिनके कोई सगे-संबंधी नहीं हैं, यही शास्त्र-सम्मत मर्यादा है –(*वही,* 10.55.)
8. वे राजा का आदेश होने पर अपराधियों का वध कानून में विहित विधि के अनुसार हमेशा करेंगे और वे अपने लिए (ऐसे) अपराधियों के वस्त्र, शैया और आभूषण प्राप्त करेंगे –(*वही,* 10.56.)
9. जो भी व्यक्ति निम्नतम जातियों की किसी स्त्री के साथ संबंध रखता है, उसका वध कर दिया जाएगा –(*विष्णु,* 5.43.)
10. अगर कोई व्यक्ति जिसको (चांडाल या किसी अन्य निम्न जाति का होने के कारण) स्पर्श नहीं किया जाना चाहिए, जान-बूझकर अपने

स्पर्श से ऐसे व्यक्ति को अपवित्र करता है, जो द्विज जाति का होने के कारण (केवल द्विज व्यक्ति द्वारा ही) छुआ जा सकता है, तो उसका वध कर दिया जाएगा –(*विष्णु*, 5.10.)

क्या कोई व्यक्ति मनु की इन व्यवस्थाओं को पढ़कर यह इंकार कर सकता है कि हिंदुओं में अस्पृश्यता की भावना को चिरस्थाई बनाने और अस्पृश्यों के प्रति उनके मन में न्यायरहितता और विवेकशून्यता उत्पन्न करने के लिए धर्म एकमात्र कारण नहीं है? निश्चय ही, अगर इन दस व्यवस्थाओं के साथ अपकर्मों को जोड़ दिया जाए, जिनका ब्यौरा इस पुस्तक के आरंभिक अध्यायों में दिया जा चुका है, तब यह स्पष्ट हो जाएगा कि अस्पृश्यों के साथ हिंदू जो बर्ताव करते हैं, वह ऐसा कर मनु की व्यवस्थाओं का ही पालन करतें हैं। अगर हिंदू किसी अस्पृश्य का स्पर्श नहीं करता है और अगर वह किसी अस्पृश्य द्वारा स्पर्श कर लिए जाने पर इसे उसका अपराध मानता है, तब वह ऐसा उपर्युक्त पांचवी और दसवीं व्यवस्था के कारण करता है। अगर हिंदू अस्पृश्यों के पृथक रहने पर जोर देता है, तब वह ऐसा तीसरी व्यवस्था के कारण करता है। अगर हिंदू अस्पृश्य को साफ कपड़े और सोने के जेवर नही पहनने देता, तब वह आठवीं व्यवस्था का ही तो पालन करता है। अगर हिंदू किसी अस्पृश्य द्वारा संपत्ति और धन अर्जित किया जाना सहन नहीं कर सकता, तब वह तीसरी व्यवस्था का पालन करता है।

वस्तुतः इस बारे में और अधिक तूल देने की कोई आवश्यकता नहीं। यह निर्विवाद है कि अस्पृश्यों के दुर्भाग्य का मुख्य कारण हिंदू धर्म और उसकी शिक्षाएं हैं। जहां तक गुलाम-प्रथा का संबंध गैर-ईसाई धर्म व ईसाई धर्म से और अस्पृश्यता का संबंध हिंदू धर्म से है, इन दोनों के बीच तुलना करने से यह पता चल जाएगा कि इन दोनों धर्मों का मानव संस्थाओं पर कितना भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ा है। अगर पहले धर्म से मानव समाज का उत्थान हुआ है, तो हिंदू धर्म के कारण मानव समाज का कितना अधिक पतन हुआ है। जो लोग अक्सर गुलाम-प्रथा के साथ अस्पृश्यता की तुलना करते हैं, वे यह नहीं सोचते कि वे विरोधी स्थितियों की परस्पर तुलना कर रहे हैं। कानून के अनुसार गुलाम स्वतंत्र व्यक्ति नहीं था, तो भी सामाजिक दृष्टि से उसे वह सारी स्वतंत्रता प्राप्त थी, जो उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक थी। इसकी अपेक्षा एक अस्पृश्य व्यक्ति कानून के अनुसार

स्वतंत्र व्यक्ति तो है, फिर भी सामाजिक तौर पर उसे अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कोई भी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है।

यह निश्चय ही एक ऐसी विरोधपूर्ण स्थिति है, जो साफ नजर आती है। इस विरोधपूर्ण स्थिति का क्या कारण है? इसका एक ही कारण है, और वह यह है कि वहां धर्म गुलामों के पक्ष में था, जब कि यहां यह अस्पृश्यों के विपक्ष में है। रोम के कानून में यह घोषित किया गया कि गुलाम की कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं है। लेकिन रोम के धर्म ने इस सिद्धांत को कभी भी स्वीकार नहीं किया और उस सिद्धांत को किसी भी हालत में सामाजिक क्षेत्र में लागू करना स्वीकार नहीं किया। उसने गुलाम को मित्र होने योग्य समझकर उसके साथ मानवोचित व्यवहार किया। हिंदू कानून में यह घोषित किया गया कि अस्पृश्य का कोई व्यक्तित्व नहीं है। गैर-ईसाई धर्म के विपरीत, हिंदू धर्म ने इस सिद्धांत को स्वीकार ही नहीं किया, बल्कि उसे सामाजिक क्षेत्र में लागू भी कर दिया। चूंकि हिंदू कानून ने अस्पृश्य का कोई व्यक्तित्व स्वीकार नहीं किया, इसलिए हिंदू धर्म ने उसे मानव नहीं माना कि वह मित्रता के योग्य हो सकता।

इसका कोई प्रश्न ही नहीं होता कि कानूनी तौर पर निचला दर्जा दिए जाने पर रोम के धर्म ने गुलाम की सामाजिक अवनति से रक्षा नहीं की। उसने इस अवनति से उसकी रक्षा तीन भिन्न-भिन्न रीतियों से की। रोम के धर्म ने उसकी रक्षा जिन तीन रीतियों से की, उनमें एक तो यह थी कि रोम के धर्म ने अपने यहां गुलाम को पवित्रतम पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए अपने सभी दरवाजे खुले रखे। जैसा कि कहा गया है :

> रोम का धर्म कभी भी गुलामों के विरुद्ध नहीं रहा। उसने अपने पूजास्थलों के द्वार उनके लिए कभी भी बंद नहीं किए। उसने उन्हें अपने उत्सवों में भाग लेने से कभी नहीं रोका। यदि कुछ अनुष्ठानों में सम्मिलित होने पर गुलामों पर प्रतिबंध था, तो वैसा ही प्रतिबंध मुक्त गुलामों (पुरुष और स्त्रियों) पर भी था—पुरुषों पर बोना दिया, वेस्ता और केरस अनुष्ठान में सम्मिलित होने पर प्रतिबंध था, तो एरा मैक्सिमा में हरक्यूलिस नामक अनुष्ठान स्त्रियों के लिए वर्जित था। ... जब रोम के निवासी अपने प्राचीन देवताओं से अपने लिए आशीर्वाद मांगा करते थे, तब वे अपने गुलामों को भी अनौपचारिक रूप से अपने परिवार के अंग के रूप में सम्मिलित कर लेते थे और वे अपने को उस परिवार के

देवी-देवताओं के संरक्षण में आया समझते थे। ... आगस्टस ने यह आदेश दिया कि मुक्त की हुई गुलाम स्त्रियों को बेस्ता में पादरिन बनने योग्य समझा जाना चाहिए। कानून इस बात पर बल देता था कि गुलाम की कब्र को पवित्र स्थल माना जाए और रोम की धार्मिक कथाओं में उसकी आत्मा के लिए अलग से किसी विशेष स्वर्ग या नरक का प्रावधान नहीं किया गया। जुनेनल यह स्वीकार करता है कि गुलाम का शरीर और उसकी आत्मा उन्हीं तत्वों से बनी है, जिनसे उसके मालिक का शरीर और आत्मा बनी है।

रोम के धर्म ने गुलामों की जिस दूसरी रीति से सहायता की, वह यह कि उसने गुलामों को नगर प्रमुख (सिटी प्रीफेक्ट) के समक्ष अपनी शिकायत दर्ज करने के योग्य समझा, जिसका काम गुलामों पर उनके मालिकों के द्वारा किए जाने वाले अत्याचार के मामलों की सुनवाई करना हो गया। वह धर्मनिरपेक्ष उपाय था। एक और बढ़िया उपचार रोम के धर्म ने यह किया कि गुलाम पूजा-गृह में जाकर यह निवेदन कर सकता था कि उसे किसी अधिक दयालु मालिक के हाथ बेच दिया जाए।

रोम के धर्म ने जिस तीसरी रीति से गुलामों की रक्षा की, वह यह थी कि उसने रोम के कानून को उसके मानव होने के औचित्य को नष्ट करने नहीं दिया। उसने उसे मानव समाज और मानव मैत्री के अयोग्य नहीं घोषित किया। रोम के गुलामों के लिए यह एक बड़ी नजात थी। कल्पना कीजिए कि यदि रोम का समाज गुलामों के हाथ से सब्जी, दूध और मक्खन न खरीदता, उनके हाथ का छुआ पानी या शराब न पीता; कल्पना कीजिए कि यदि रोम का समाज गुलामों से छूतछात बरतता, उन्हें अपने घरों में न घुसने देता, वाहनों में उन्हें साथ न बैठाता आदि, तो क्या उनके मालिकों के लिए यह संभव होता कि वे उन्हें अर्ध जंगली स्थिति से ऊपर उठाकर सभ्य बना लेते। स्पष्टतः कदापि नहीं। कारण यही था कि गुलाम को अस्पृश्य बनाकर नहीं रखा गया, इसलिए मालिक ने प्रशिक्षित करके उसे ऊंचा उठाया। हम फिर उसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, अर्थात गुलाम को इसलिए बचाया जा सका क्योंकि समाज द्वारा उसके व्यक्तित्व को मान्यता दी गई, और अस्पृश्य की बरबादी का कारण यही था कि हिंदू समाज ने उसके व्यक्तित्व को मान्यता नहीं दी। उसे गंदा और गलीज माना, जिसके कारण वह बराबर में बिठाए जाने या व्यवहार रखे जाने योग्य नहीं रहा।

कोई सामाजिक या धार्मिक खाई नहीं थी, जो गुलाम को शेष समाज से अलग रखती। बाहर से देखने-सुनने में वह मुक्त गुलाम (फ्रीमैन) से भिन्न नहीं था। रंग या कपड़ों से उसकी स्थिति का पता नहीं चलता था, वह मुक्त गुलाम की तरह सभी खेल-तमाशों को देख सकता था, वह नगर के जन-जीवन में भाग ले सकता था और राज्य की नौकरियों में नियुक्त हो सकता था, वह व्यापार और वाणिज्य में भाग ले सकता था, जैसे कि अन्य मुक्त गुलाम भाग लेते थे। अक्सर देखा गया कि व्यक्ति के लिए बाहर-बाहर दिखने वाली प्रातिभासिक समानता का महत्व उन अधिकारों से अधिक होता है, जो उसे कानून के तहत प्राप्त होते हैं। गुलाम और मुक्त गुलाम के बीच सामाजिक सीमा अक्सर मिट जाती होगी। गुलाम और मुक्त गुलाम तथा मुक्त गुलाम और गुलाम के बीच विवाह-संबंध आम बात थी। गुलाम होने की स्थिति उस व्यक्ति के लिए कलंक नहीं रह गई, जो गुलाम होता था। वह स्पृश्य था और आदरणीय भी। यह सब गुलामों के प्रति रोम के धर्म के दृष्टिकोण के कारण हुआ।

गुलाम-प्रथा के संबंध में ईसाई धर्म के रवैए के विषय में विस्तार से लिखने के लिए यहां स्थान नहीं है। परंतु वह गैर-ईसाई धर्म से भिन्न था। बहुत से लोगों को इस बात का पता नहीं है कि अमरीका में गुलाम-प्रथा के दिनों में ईसाई पादरी किसी गुलाम को ईसाई धर्म में दीक्षित करने के लिए तैयार नहीं होते थे, क्योंकि उनका विचार था कि यदि गुलामों को दीक्षित किया गया और वे गुलाम ही बने रहे, तो इससे ईसाई धर्म का स्तर गिर जाएगा। उनका विचार था कि कोई ईसाई दूसरे ईसाई को गुलाम बनाकर नहीं रख सकता। उसे दूसरे ईसाई को बराबरी का दर्जा देना पड़ जाएगा।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कानून और धर्म, दो ऐसे तत्व हैं जो व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। कभी-कभी तो उनका चोली-दामन का साथ होता है और कभी-कभी वे एक-दूसरे की खामियों को सुधारने का काम भी करते हैं। इन दोनों तत्वों में कानून का संबंध व्यक्ति से है, जब कि धर्म निर्वैयक्तिक होता है। कानून क्योंकि व्यक्ति पर आधारित है, इसलिए वह अन्याय और असमानता का कारण हो सकता है। परंतु धर्म के साथ यह बात नहीं है, इसलिए वह निष्पक्ष रह सकता है। यदि धर्म निष्पक्ष होगा, तो वह कानूनी असमानता को दूर करने की क्षमता रखता है।

रोम में गुलामों के संबंध में ऐसा ही हुआ। इसी कारण धर्म के विषय में यह कहा जाता है कि वह मनुष्य को उदात्त बनाने के लिए है, न कि उसे अवनत करने के लिए। हिंदू धर्म एक अपवाद है। इसने अस्पृश्यों को अधः प्राणी बना दिया। इसने हिंदू को अमानुषिक बना दिया। इस अधः प्राणी की स्थापित व्यवस्था से और न अमानुषिकता से ही त्राण पाने का कोई उपाय दीखता है।

❑❑

10

हिंदू और उनके सामाजिक विवेक का अभाव

जो भी व्यक्ति अस्पृश्यों की दयनीय स्थिति से दुखी होता है तो वह यह कहकर शुरू करता है, 'हमें अस्पृश्यों के लिए कुछ करना चाहिए।' लेकिन इस समस्या को जो लोग हल करना चाहते हैं, उनमें से शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जो यह कहता हो कि 'हमें हिंदुओं को बदलने के लिए भी कुछ करना चाहिए।' यह धारणा बनी हुई है कि अगर किसी का सुधार होना है तो वह अस्पृश्यों का होना है, मानो अस्पृश्यता उनके भ्रष्ट होने के कारण है और अपनी हालत के लिए वे स्वयं जिम्मेदार हैं। हम अपना जो भी लक्ष्य बनाएं, वह अस्पृश्यों के लिए हो। हिंदू के बारे में कुछ भी नहीं किया जाना है। उनकी भावनाएं, आचार-विचार और आदर्श उच्च हैं। वे पूर्ण हैं, उनमें कहीं कोई खोट नहीं है। वे पापी तो हैं ही नहीं।

असलियत क्या है? यह तर्क कि हिंदुओं में कोई दोष नहीं है और अस्पृश्य जो कष्ट झेलते हैं, उसके लिए वे स्वयं जिम्मेदार हैं, ठीक वैसा ही है, जैसा कि यहूदियों के साथ अमानवीय व्यवहार करने पर अपने बचाव में ईसाई देते हैं। श्री लुइस गोल्डिंग ने इन यहूदियों की तरफ से ईसाइयों को करारा जवाब दिया है। यहूदियों की समस्या के मूल का विवेचन करते हुए लुई गोल्डिंग का कहना है :

"मैं जिस अर्थ में यहूदियों की समस्या को असलियत में ईसाई समस्या समझता हूं, उसको स्पष्ट करने के लिए एक बहुत ही सीधी-सी मिसाल देता हूं। मेरे ध्यान में मिश्रित जाति का एक आयरिश शिकारी कुत्ता आ रहा है। इसे मैं बहुत दिनों से देखता हूं। यह मेरे दोस्त जॉन स्मिथ का कुत्ता है, नाम है पैडी। वह इसे बेहद प्यार करते हैं। पैडी को स्कॉच शिकारी कुत्ते नापसंद हैं। इस जाति का कोई भी कुत्ता उसके आस-पास बीस गज दूर से भी नहीं निकल सकता और कोई दिख

भी जाता है, तो वह भूंक-भूंककर आसमान सिर पर उठा लेता है। उसकी यह बात जॉन स्मिथ को बेहद बुरी लगती है और वह उसे चुप करने का हर संभव प्रयत्न भी करते हैं क्योंकि पैडी जिन कुत्तों से नफरत करता है, वे बेचारे चुपचाप रहते हैं और कभी भी पहले नहीं भूंकते। मेरा दोस्त, हालांकि पैडी को बहुत प्यार करता है, तो भी वह यह सोचता है, और जैसा कि मैं भी सोचता हूं, कि पैडी की यह आदत बहुत कुछ उसके किसी जाति-विशेष होने पर उसके स्वभाव के कारण है। हमसे किसी ने यह नहीं कहा कि यहां जो समस्या है, वह स्कॉच शिकारी कुत्ते की समस्या है और जब पैडी अपने पास के किसी कुत्ते पर झपटता है जो बेचारा टट्टी-पैशाब वगैरह के लिए जमीन सूंघ-सांघ रहा होता है, तब उस कुत्ते को क्या इसलिए मारना-पीटना चाहिए कि वह वहां अपने अस्तित्व के कारण पैडी को हमला करने के लिए उकसा देता है।"

यहां यदि हम पैडी की स्थिति में हिंदू को और स्कॉच शिकारी कुत्ते की स्थिति में अस्पृश्यों को रखकर विचार करें तो हम देखेंगे कि लुइस गोल्डिंग का तर्क हिंदुओं के संबंध में भी उतना ही लागू होगा, जितना ईसाइयों पर होता है। अगर गोल्डिंग की बात मानी जाए तो यहूदियों की समस्या वास्तव में ईसाइयों की समस्या है, तब अस्पृश्यों की समस्या भी मूलतः हिंदुओं की समस्या है।

क्या हिंदुओ को इसका अहसास है? क्या वे मानते हैं कि अस्पृश्य उनके लिए समस्या हैं? क्या उन्हें इसकी चिंता है? क्या वे इस पर विचार करते हैं? सचाई जानने के लिए कई बातें देखनी होंगी। एक कसौटी तो यही है कि इस विषय पर कितना साहित्य रचा गया है। मानक कसौटी के रूप में हम अमरीका में नीग्रो लोगों के बारे में रचे गए साहित्य को लें। हमें जानकर आश्चर्य होता है कि अमरीका में नीग्रो लोगों के संबंध में ढेर सारी सामग्री छपी है। कहा जाता है कि नीग्रो समस्या के संबंध में ग्रंथों की सूची तैयारी की जाए, तो कई लाखों पुस्तकों की सूची बन जाएगी। वास्तव में इस विषय पर असंख्य पुस्तकें लिखी गई हैं। यही इस बात का सबसे बड़ा सबूत है कि श्वेत लोगों के लिए यह कितनी बड़ी समस्या है। इस समस्या ने अमरीका में वहां के सभी वर्ग के लोगों को कई पीढ़ियों तक प्रेरित रखा जिनमें धार्मिक, आदर्शवादी, राजनैतिक चिंतक, राजनेता, दानी,

समाज विज्ञानी, राजनीतिज्ञों, व्यापारियों के साथ-साथ साधारण नागरिक भी आते हैं।

भारत में अस्पृश्यों पर कितना साहित्य छपा है? पांच-छह पैमफ्लैटों से ज्यादा नहीं।

दूसरी कसौटी सामाजिक व्यवहार है। मैं समाचार-पत्रों में छपी दो घटनाएं उद्धृत करना चाहता हूं। पहली घटना *'प्रताप'* के 5 मार्च 1926 के अंक में छपी है। यह इस प्रकार है :

"तेईस फरवरी को दिन में करीब ग्यारह बजे लखनऊ के बेगमगंज में लगभग बारह-तेरह लोग मिट्टी खोद रहे थे। तभी एक मिट्टी का ढूह गिर पड़ा और वे सभी मिट्टी में दब गए। मिट्टी हटाए जाने पर एक लड़के और छह औरतों को निकाल लिया गया। उनमें से केवल एक औरत जिंदा बची, जो मीरपुर की रहने वाली थी। उसे गहरी चोटें आई थीं और उसकी हालत नाजुक थी। बेगमगंज के निवासियों ने चारपाई देने से इंकार कर दिया, जिस पर उस औरत को लिटाया जाता। अंत में एक मुसलमान ने चारपाई दी। लेकिन कोई हिंदू इस बात के लिए तैयार नहीं था कि उस घायल औरत को चारपाई पर उठाकर उसके घर पहुंचा दें। अंत में एक जमादार को बुलाया गया, जो उसे उसके घर पहुंचा कर आया।"

अस्पृश्यों के प्रति हिंदुओं की हृदयहीनता का सबसे बड़ा उदाहरण निम्नलिखित घटना से प्रकट होता है, जिसके बारे में *'संग्राम'* के 10 जुलाई 1946 के अंक में प्रकाशित संवाददाता की एक रिपोर्ट में बताया गया है। संवाददाता लिखता है :

"आठ जुलाई 1946 को गोवा के म्हाप्से गांव में स्थित अजिल नामक अनाथ आश्रम में एक औरत मर गई। यह आश्रम ईसाई चलाते हैं। यह पता चला कि वह औरत हिंदू थी। उसका कोई सगा-संबंधी नहीं था। जब यह पाया गया कि उसका क्रियाकर्म करने वाला कोई नहीं है तो गांव के हिंदुओं ने मिलकर कफन और अर्थी के लिए चंदा इकट्ठा किया। वे उसके शव को अनाथ आश्रम से बाहर ले आए। उसी समय कुछ अस्पृश्य भी वहां पहुंच गए, जो मृतक औरत को जानते थे। उन्होंने उसकी पहचान कर ली। जैसे ही हिंदुओं को पता चला कि मरने वाली औरत

अस्पृश्य थी तो वे इधर-उधर खिसक गए। अस्पृश्यों ने हिंदुओं से कहा कि उन्होंने मृतक औरत के नाम पर जो चंदा इकट्ठा किया है, वह उन्हें दे दें। हिंदू मुकर गए और उन्होंने कहा कि वह चंदा तो उस औरत को हिंदू जानकर इकट्ठा किया गया था। वह हिंदू नहीं, बल्कि एक अस्पृश्य थी, तो उसके क्रियाकर्म पर यह पैसा खर्च नहीं किया जा सकता। अस्पृश्यों ने उसके अंतिम संस्कार का खुद ही इंतजाम किया। अस्पृश्यों को अपने प्रति हिंदुओं के प्रेम और सद्भाव का अच्छा सबूत मिला।"

निम्नलिखित समाचार 2 अक्तूबर 1925 के *'मिलाप'* से लिया गया है। पत्र का संवाददाता लिखता है :

"रुद्रप्रयाग से समाचार मिला है कि सितंबर के पहले सप्ताह की एक शाम को एक हरिजन रुद्रप्रयाग की धर्मशाला में आया। जब उसे पता चला कि वहां रोजाना रात को एक बाघ आता है तो उसने धर्मशाला के प्रबंधक से कहा कि बाघ से बचने के लिए वह उसे रात-भर के लिए धर्मशाला के किसी कोने में पड़ा रहने दे। पर उस जालिम प्रबंधक ने एक न सुनी और धर्मशाला का फाटक बंद कर दिया। अभागा हरिजन धर्मशाला के बाहर कोने में पड़ा रहा। रात-भर उसे बाघ का डर सताता रहा। जब रात ढल रही थी तो बाघ आया और हरिजन पर टूट पड़ा। वह आदमी काफी तगड़ा था। मौत को सामने देख वह निडर हो गया। उसने बाघ को गर्दन से पकड़ लिया और चिल्लाया, 'मैंने बाघ को पकड़ रखा है। आओ और इसका काम तमाम कर दो।' पर ऊंची जाति के प्रबंधक ने न तो फाटक ही खोला, और न ही किसी अन्य तरीके से उसकी मदद की। इधर हरिजन की पकड़ ढीली पड़ गई और बाघ जान बचाकर भाग गया। फिलहाल वह व्यक्ति श्रीनगर (गढ़वाल) के अस्पताल में घायल अवस्था में पड़ा है, जहां उसने अपने को खुद दाखिल करवाया। उसकी हालत नाजुक बताई जाती है।"

इन उदाहरणों में व्यक्त हृदयहीनता से पता चलता है कि हिंदू को अस्पृश्यों के साथ व्यवहार करते समय उचित-अनुचित का कोई ध्यान नहीं रहता और वह उनकी बिल्कुल भी परवाह नहीं करता।

तीसरी कसौटी अस्पृश्यों की सेवा और उनके प्रति त्याग-भावना है। यहां भी हम नीग्रो लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा उठाने के लिए अमरीकियों के

प्रयासों को मानक मानकर चलते हैं। इस संबंध में कुछ आंकड़े नीचे दिए जा रहे हैं।

कृपया इस बात पर विचार कीजिए कि नीग्रो लोगों के कल्याणार्थ श्वेत लोगों ने कितना दान[1] दिया–

वसीयतकर्ता	राशि (डालरों में)	वसीयतकर्ता	राशि (डालरों में)
केन	50,000	मैसन	1,00,000
हार्टन	5,000	नाउनबर्ट	40,000
ट्रागटन	1,60,600	हैरीसन	2,30,000
ऑटिंगर	500	मंगर	75,000
गम्[illegible]	35,000	कोरलिस	45,000
जरप्की	1,000	रोजनबैनिन	1,000
स्ट्रोक	500	बर्टन	1,000
किडिर	5,000	कॉनरॉय	1,00,000
क्लोडिन	10,000	केंट	10,000
वुड	500	ड्यूक	1,40,000
हार्कनेस	12,50,000	मर्कीलिएट	5,000
बीटी	2,90,000	मैसी	25,000
मारक्वैंट	5,000	निकोलस	20,000
न्यूटन	5,000	गैरटसन	1,50,000
हमिंगटन	25,000	हैचर	20,000
फैल्प-स्टोक्स	2,80,000	राइट	10,000
बटलर	30,000		

यह आंकड़े 1930 से पहले के हैं। इसमें शेष राशि शामिल नहीं है।

नीग्रो लोगों में शिक्षा के प्रसार के लिए विद्यमान शिक्षा कोषों[2] पर भी विचार कीजिए:

1. यह तालिका *'नीग्रो इयर बुक'*, 1931-32, में पृ. 202 पर दी गई सूची के आधार पर तैयार की गई है।
2. यह तालिका *'नीग्रो इयर बुक'*, 1931-32, में पृ. 213-18 पर दी गई सूची के आधार पर तैयार की गई है।

(1) दि एवरी फंड,

(2) दि विलास बीक्वेस्ट,

(3) दि अफ्रीकन फंड,

(4) दि बकिंघम फंड,

(5) दि जार्ज वाशिंगटन एजूकेशनल फंड,

(6) दि माइनर फंड,

(7) दि स्टीवर्ड मिशनरी फांउडेशन,

(8) दि डेनियल हैंड फंड,

(9) दि जॉन स्लैटर फंड, और

(10) दि फैल्प-स्टोक्स फंड

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कोष भी हैं, जैसे कि कैरनेगी कोरपोरेशन ज्यूलियस रोजनवाल्ड फंड और दि रौक फैलर फाउंडेशन, जो नीग्रो लोगों की सहायता करते हैं। ये कोष कितना धन वितारेत करते हैं, यह मालूम नहीं है। परंतु यह लाखों से ऊपर होगा।

नीग्रो लोगों की शिक्षा के लिए धार्मिक सस्थानों द्वारा किए जाने वाले खर्च को भी देखें। यहां कुछ आंकड़े[1] दिए जा रहे हैं :

	वार्षिक खर्च (डालरों में)	नीग्रो शिक्षा के लिए स्थाई कोष	स्कूलों की इमारत आदि का मूल्य (डालरों में)
1. अमरीकन बैपतिस्त होम मिशन बोर्ड	116,247	1,597,700	3,594,251
2. अमरीकन चर्च इंस्टीट्यूट फार नीग्रोज (एपिसकोपल)	185,100	450,000	3,000,000
3. अमरीकन मिशनरी एसोसिएशन	368,057	3,228,421	3,2000,000

1. यह तालिका *'नीग्रो इयर बुक'*, 1931-32, में पृ. 213 पर दी गई सूची के आधार पर तैयार की गई है।

4. चर्च आफ क्राइस्ट (डिसीपिल्स) यूनाइटेड क्रिश्चियन मिशनरी सोसायटी	91,072	----------	5000,000
5. लूथरेन इवैंजलिकल साइनोडिकल कांफ्रेंस आफ नार्थ अमरीका बोर्ड कलर्ड मिशन	74.900	----------	175,000
6. मैथोडिस्ट एपिसकोपल चर्च बोर्ड आफ एजूकेशन इंस्टीट्यूशन फार नीग्रोज	259,264	1,962,729	500,000
7. मैथोडिस्ट एपिसकोपल चर्च वीमेंस होम मिशनरी सोसायटी	104,975	----------	360.000
8. प्रेसबाइटेरियन चर्च इन दि यू.एस.ए. डिविजन आफ मिशन फार कलर्ड पीपुल	405,327	1,994,032	3,560,000
9. यूनाइटेड प्रेसबाइटेरियन चर्च बोर्ड आफ मिशन फार फ्रीमैन	98,000	645,000	1,000,000

ऐसा अनुमान है कि 1865 से लेकर 1930 तक धार्मिक और खैराती संस्थाओं द्वारा नीग्रो लोगों के उत्थान पर कुल 135,000,000 डालर खर्च किए गए। इस धनराशि में से 85,000,000 डालर श्वेत लोगों द्वारा दिए गए हैं।

अस्पृश्यों के उत्थान के लिए हिंदुओं ने क्या सेवाएं और क्या त्याग किया है। हरिजन सेवक संघ[1] ही केवल एक ऐसा संगठन है, जिस पर हिंदू गर्व कर सकते हैं। इसकी कुल पूंजी दस लाख रुपये से अधिक नहीं है। फुटकर और बेकार के कार्यों पर इसका खर्च प्रतिवर्ष कुछ हजार रुपये से ज्यादा नहीं है। यह कोई कल्याण कोष नहीं है। असल में यह एक राजनैतिक कोष है। इस कोष का प्रयोजन मुख्य रूप से अस्पृश्यों को अपने वोट हिंदुओं के लिए डालने के लिए राजी करना है।

यह अंतर क्यों है? अमरीका में लोग अपने यहां नीग्रो लोगों के उत्थान के लिए सेवा और त्याग कर इतना सब कुछ क्यों करते हैं और अस्पृश्यों

1. विस्तृत जानकारी के लिए मेरी पुस्तक *'वाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबल्स'* देखें।

के उत्थान के लिए हिंदू लोग कुछ भी क्यों नहीं करते हैं? इसका एक ही उत्तर है कि अमरीकियों में सामाजिक विवेक है, जब कि हिंदुओं में इसका सर्वथा अभाव है। ऐसी बात नहीं कि हिंदुओं में उचित-अनुचित, भला-बुरा या नैतिकता-अनैतिकता का कोई विचार नहीं है। हिंदुओं में दोष यह है कि अन्य के संबंध में उनका जो नैतिक विवेक है, वह सीमित वर्ग, अर्थात अपनी जाति के लोगों तक ही सीमित है। जैसा कि श्री एच.जे.पैटन कहते हैं[1]:

> कोई व्यक्ति नैतिक दृष्टि से अच्छा हुए बिना भी किसी विशिष्ट समाज में एक अच्छा व्यक्ति हो सकता है। जो व्यक्ति अपने जीवन में कानून-सम्मत अपनी एक पृथक जीवन-चर्या बना लेता है और तदनुसार आचरण करता है, उसमें भी नैतिक गुणों की छाया या उसका आभास मिल सकता है, और उसके जीवन में कोई ऐसा गुण हो सकता है, जिसे हम नैतिक गुण समझने की गलती कर जाएं। ऐसा व्यक्ति किसी भी समाज का हो सकता है, चाहे वह चोरों या डाकुओं का कोई गिरोह ही क्यों न हो। हालांकि चोरों या डाकुओं में भी कोई व्यक्ति ऐसा होता है, जिसे वे आदर देते हैं। लेकिन वह चोर या डाकू इस कारण आदरणीय व्यक्ति तो नहीं हो सकता। नैतिक दृष्टि से कोई व्यक्ति अच्छा तभी कहा जाएगा, जब वह किसी सीमित समाज में ही अच्छा व्यक्ति नहीं कहा जाए, बल्कि उसे उस समाज के बाहर भी लोग अच्छा कहें। समाज कई समाजों का हो सकता है, जिसके उद्देश्य में सभी समाजों के उद्देश्य अंतर्निहित होते हैं। ऐसे समाज से परे कोई समाज नहीं होता है, जिससे कर्तव्यों में कोई अंतर्विरोध उत्पन्न होने की कोई गुंजाइश रहे।

अस्पृश्य लोग हिंदुओं के समाज के नहीं हैं और हिंदू भी यह नहीं समझते हैं कि वे और अस्पृश्य, दोनों एक ही समाज के लोग हैं। यही कारण है कि हिंदुओं में नैतिक दृष्टि से अस्पृश्यों के प्रति कोई चिंता या ममत्व नहीं होता।

चूंकि हिंदुओं में इस प्रकार के विवेक का अभाव होता है, इसलिए उनके हृदय में हठधर्मिता और अन्याय के विरुद्ध, जिनसे अस्पृश्य लोग पीड़ित हैं, न्यायोचित रोष उत्पन्न नहीं होता। वे इस हठधर्मिता और अन्याय को गलत नहीं समझते और कुछ भी मानने के लिए तैयार नहीं हैं। हिंदुओं में विवेक का अभाव अस्पृश्यता के निवारण के रास्ते में एक बड़ी बाधा है।

□□

1. *'दि गुड विल'* एच.जे.पैटन, पृ. 281

11

हिंदू और जातिप्रथा में उसका अटूट विश्वास

हिंदू समाज-सुधारकों में कुछ उदारवादी भी हैं। इस वर्ग का कहना है कि अस्पृश्यता हिंदुओं की जातिप्रथा से भिन्न है। इस सिद्धांत के आधार पर वे कहते हैं कि जातिप्रथा नष्ट किए बिना भी अस्पृश्यता दूर हो सकती है। धर्मनिष्ठ हिंदू अस्पृश्यता दूर करने का उतना ही विरोधी है, जितना कि वह जातिप्रथा को दूर करने के विरुद्ध है। वह दो चरणों में समाज-सुधार का उतना ही विरोधी है, जितना कि वह एक चरण में समाज के सुधार का विरोधी है। परंतु राजनीति के खिलाड़ी हिंदुओं को यह विचार बहुत पसंद है। साफ तौर पर इसके दो कारण हैं। पहली बात तो यह है कि इस प्रकार उसे संसार को यह दिखाने का अवसर मिलता है कि वह लोकतंत्र का सबसे बड़ा समर्थक है। दूसरी बात यह है कि अगर वह जातिप्रथा का विरोध नहीं करता है, तब सवर्ण हिंदुओं द्वारा कांग्रेस को छोड़ने का कोई भय नहीं रह जाता।

जो लोग जातिप्रथा को दूर किए बिना अस्पृश्यता-निवारण की बात करते हैं, वे अपने तर्क की पुष्टि में *'मनुस्मृति'* के दसवें अध्याय के चौथे श्लोक को उद्धृत करते हैं। इस श्लोक में मनु केवल चार वर्ण बताता है। कोई पंचम वर्ण है ही नहीं। इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जाता है कि अस्पृश्य लोग शूद्रों की ही श्रेणी में हैं और जब शूद्रों को न छूने का कोई विधान नहीं है, तब अस्पृश्यों को छूने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह व्याख्या राजनैतिक हिंदुओं को चाहे जितनी अच्छी लगे, लेकिन मनु के अभिप्राय से यह भी व्याख्या मेल नहीं खाती। इस श्लोक की व्याख्या अन्य प्रकार की भी हो सकती है और इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि मनु चातुर्वर्ण्य का विस्तार नहीं चाहता था और इन समुदायों को मिलाकर

पंचम वर्ण की व्यवस्था के पक्ष में नहीं था, जो चारों वर्णों से बाहर थे। यह कहकर कि पंचम वर्ण नहीं है, वह यह बताना चाहता है कि जो चातुर्वर्ण्य से बाहर हैं, उन्हें वह पांचवा वर्ण बनाकर हिंदू समाज में शामिल नहीं करना चाहता था। इस बात को उसने स्पष्ट रूप से कहा है, जब वह वर्ण-बाह्य[1] लोगों का जिक्र करता है, जिसका अर्थ है वे लोग, जो वर्ण-व्यवस्था से बाहर हैं। यदि मनु सभी लोगों को चार वर्णों में रखना चाहता, तो वर्ण-बाह्य कहने की जरूरत ही क्या थी? वर्ण-बाह्य में भी वह दो श्रेणियां रखना चाहता था। उसने इन्हें हीन[2] और अन्त्येवासी[3] कहा है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि उक्त श्लोक का जैसा भाष्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है, उससे कट्टरपंथी हिंदुओं को भ्रम में नहीं डाला जा सकता कि अस्पृश्यता *'मनुस्मृति'* से मेल नहीं खाती और इसका उन्मूलन हिंदू विधान के प्रतिकूल नहीं है।

मनु के श्लोक की उक्त व्याख्या पर आश्रित तर्क सामान्य और अशिक्षित हिंदू की समझ से परे है। वह तो केवल दो बातें जानता है। एक तो यह कि सामाजिक व्यवहार में तीन प्रकार के बंधन हैं, जिनका पालन किया जाना चाहिए। वे हैं— (1) जातियों के बीच आपस में खान-पान निषिद्ध, (2) जाति के बाहर बेटी व्यवहार वर्जित, और (3) कुछ जातियों के लोगों के छू जाने पर भी परहेज। पहले दो प्रतिबंधों से जाति बनती है और तीसरे प्रतिबंध से अस्पृश्यता का जन्म होता है। सवर्ण हिंदू को प्रतिबंधों की संख्या से कोई गुरेज नहीं। वह प्रतिबंध के आचरण पर विशेष ध्यान रखता है। जब उससे इन प्रतिबंधों का अनुपालन नहीं करने के लिए कहा जाता है, तब वह पलट कर पूछ बैठता है, 'क्यों'? वह कहता है, 'जब मैं पहले दो प्रतिबंधों को मानता हूं तो तीसरे का अनुपालन करने में क्या हर्ज है।' मनोवैज्ञानिक रूप में जातिप्रथा और अस्पृश्यता आपस में गुंथी हुई हैं और एक ही सिद्धांत पर आधारित हैं। यदि कोई सवर्ण हिंदू छूतछात बरतता है, तो इसका अर्थ है कि वह जाति में यकीन रखता है।

यदि इस दृष्टि से विचार किया जाए, तब यह स्पष्ट हो जाएगा कि जातिप्रथा को समाप्त किए बिना अस्पृश्यता के विनाश की आशा करना बालू

---

1. *मनुस्मृति*, 10.28.
2. *वही*, 10.31.
3. *वही*, 10.39.

की भीत बनाना है। यह विचार कि जातिप्रथा और अस्पृश्यता, दोनों अलग-अलग हैं, एक दिवा-स्वप्न है। दोनों एक ही हैं और इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। अस्पृश्यता, जातिप्रथा का ही परिणाम है। दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। दोनों का चोली-दामन का साथ है।

एक अन्य कारण भी है, जिससे किसी भी कानूनी या बौद्धिक तरीके से अस्पृश्यता को मिटाया नहीं जा सकता। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि हिंदू समाज-व्यवस्था सीढ़ी दर सीढ़ी असमानता के सिद्धांत पर आधारित है। यदि यह कहा जाए कि कुछ लोग ही इस सिद्धांत की इस विशिष्टता को समझते हैं, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। यदि कोई समाज सामाजिक असमानता पर आधारित है तो वह उस समाज से बिल्कुल भिन्न है, जो सीढ़ी दर सीढ़ी असमानता पर आधारित है। पहले प्रकार का समाज एक ढुलमुल व्यवस्था है, जो आत्म-सुरक्षा में सक्षम नहीं है, जब कि दूसरे प्रकार का समाज अपने अस्तित्व को बनाए रखने में पूर्णतः सक्षम है। जो सामाजिक व्यवस्था असमानता पर आधारित होती है, उसमें निचले वर्ण के लोग इस व्यवस्था का उल्लंघन करने के लिए एक-दूसरे के साथ एकजुट हो सकते हैं। उस व्यवस्था को बनाए रखने में किसी की भी रुचि नहीं होती। उस सामाजिक व्यवस्था पर सामूहिक प्रहार की संभावना नहीं होती, जो सीढ़ी दर सीढ़ी असमानता पर आधारित होती है, क्योंकि सभी पक्षों का दुख-दर्द समान नहीं होता है। यह तो तभी हो सकता है जब केवल ऊंचे और नीचे का भेदभाव हो। इस सीढ़ीनुमा व्यवस्था में शीर्ष पर ब्राह्मण हैं। सर्वोच्च से नीचे उच्चतर क्षत्रिय हैं। उच्चतर से नीचे उच्च वैश्य हैं। उच्च से नीचे निम्न अर्थात शूद्र हैं और निम्न से नीचे अर्थात जो निम्नतर हैं, वे अस्पृश्य हैं। उच्चतम से सभी को गिला है और सभी उसका पतन चाहेंगे। पर नीचे वाले एकजुट नहीं हो सकते। उच्चतर वर्ग उच्चतम वर्ग से पिंड छुड़ाना चाहता है, परंतु वह उच्च निम्न और निम्नतर वर्ग के कंधे से कंधा नहीं मिला सकता कि कहीं वे उसके बराबर न हो जाएं। उच्च वर्ग उच्चतर वर्ग को गिरा देना चाहता है जो उसके ऊपर है, परंतु वह निम्न और निम्नतर से नहीं मिलेगा कि कहीं वे उसके बराबर का दर्जा न पा जाएं। निम्न वर्ग उच्चतम, उच्चतर और उच्च वर्ग से छुटकारा पाना चाहेगा, परंतु निम्नतर से उसकी पटरी नहीं बैठेगी कि कहीं निम्नतर निम्न का दर्जा न पा ले। सीढ़ीनुमा समाज में सिवा इसके कि जो सामाजिक पिरामिड में सबसे नीचे

हैं, कोई भी पूरी तरह विशेषाधिकारों से वंचित नहीं है। दूसरों को श्रेणीगत विशेषाधिकार प्राप्त हैं। यहां तक कि निम्न को भी निम्नतर की तुलना में विशेषाधिकार प्राप्त हैं। चूंकि हर वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त हैं, अतः हर वर्ग उस व्यवस्था को बनाए रखना चाहता है।

अस्पृश्यता अस्पृश्यों के लिए दुर्भाग्यपूर्ण हो सकती है। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि वह हिंदुओं के लिए एक वरदान है। इससे उन्हें एक ऐसा वर्ग मिलता है, जिसकी अपेक्षा वह अपने को श्रेष्ठ समझ सकते हैं। हिंदू ऐसा समाज नहीं चाहते, जिसमें कोई भी 'कुछ' न हो। वे ऐसा समाज भी नहीं चाहते, जिसमें हर 'कोई' कुछ भी बन सके। वे तो ऐसा समाज चाहते हैं, जिसमें वे ही कुछ हों और बाकी लोग कुछ भी न हों। अस्पृश्य 'कुछ भी नहीं हैं' लोगों का वर्ग है। इससे हिंदू 'कुछ' हो जाते हैं। अस्पृश्यता हिंदुओं के सहज गर्व को बनाए रखती है और उन्हें ऐसा अनुभव करने का अवसर प्रदान करती है कि वे अपने को बड़ा अनुभव करने के साथ बड़े दिखें भी। यह एक अन्य कारण है, जिससे हिंदू उन लोगों के प्रति अस्पृश्यता को नहीं त्यागना चाहते हैं, जो बहुतांश तो हैं, लेकिन वे छोटे लोग हैं।

अस्पृश्यता तभी दूर हो सकेगी, जब संपूर्ण हिंदू सामाजिक व्यवस्था, विशेष रूप से जातिप्रथा विलीन हो जाए। क्या यह संभव है? प्रत्येक संस्था का कोई न कोई आधार होता है। ये आधार तीन प्रकार के होते हैं, जो किसी संस्था को जीवन प्रदान किए रहते हैं। ये आधार हैं – कानूनी, सामाजिक और धार्मिक। संस्था का स्थायित्व उसके अपने आधार की शक्ति पर निर्भर करता है। जातिप्रथा के आधार की प्रकृति कैसी है? दुर्भाग्य से जातिप्रथा का आधार धार्मिक है। जातिप्रथा, वर्ग-व्यवस्था का नया संस्करण है, जिसे वेदों से आधार मिलता है। वेद हिंदू धर्म के पवित्र ग्रंथ हैं और अकाट्य हैं। मैं इसे दुर्भाग्यपूर्ण इसलिए कहता हूं कि जिस किसी का आधार धर्म होता है, वह इस कारण ही पवित्र और सनातन बन जाता है। हिंदुओं के लिए जातिप्रथा पवित्र है और सनातन है। यदि जातिप्रथा विलीन नहीं हो सकती, तब यह आशा किस प्रकार की जाए कि अस्पृश्यता विलीन हो जाएगी?

□□

भाग IV

अस्पृश्यों के रास्ते की अड़चनें

12

प्रशासन का दृष्टिकोण

भारतीय दंड-संहिता की धारा 2 के अनुसार :

> प्रत्येक व्यक्ति जो ब्रिटिश भारत की सीमा में इस संहिता के प्रावधानों के प्रतिकूल प्रत्येक कार्य या त्रुटि के लिए दोषी होगा, वह इस संहिता के अधीन, न कि अन्यथा, दंड का भागी होगा।

जिन विधि आयुक्तों ने दंड-संहिता का मसौदा तैयार किया था, उन्होंने सेक्रेटरी आफ स्टेट को लिखे अपने पत्र से 'प्रत्येक व्यक्ति' शब्दों पर विशेष ध्यान दिए जाने की आवश्यकता पर बल दिया था। वे अपनी टिप्पणी में लिखते हैं :

> महोदय, आप देखेंगे कि हमने इस संहिता के प्रभाव-क्षेत्र से किसी भी स्वायत्तशासी प्राचीन रजवाड़ों को जो कंपनी की राज्य-सीमा में रहते हैं, मुक्त रखने का प्रस्ताव नहीं किया है। यह अपवाद होना चाहिए अथवा नहीं, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर हम तब तक कुछ नहीं कह सकते, जब तक हमें मौजूदा संधियों के बारे में, उनकी पृष्ठभूमि के बारे में जिस अर्थ में वह समझी गईं, समझोतों के इतिहास की, संबंधित परिवारों की मनोवृत्ति और उनकी शक्ति और उन परिवारों के प्रति वहां की जनता की भावनाओं के बारे में उससे भी अधिक सटीक जानकारी न हो जितनी कि हमें है। अत्यंत आदरपूर्वक हम यही निवेदन करना चाहते हैं कि इस प्रकार जो भी अपवाद होगा, वह एक बुरी बात होगी, इससे और भी बुरी बात यह है कि जनता से यह कहा जाए कि वह कानून से ऊपर होने की स्थिति को उच्च और विशेषाधिकार के रूप में ग्रहण करे, यह विशेषाधिकार जितने अधिक समय तक दिए जाते रहेंगे, उतना ही इन्हें वापस लेना कठिन होता जाएगा, इन्हें वापस लेने का इससे

अच्छा अवसर कब आएगा जब सरकार एक नई संहिता लागू करने जा रही है, जो सभी जातियों और धर्मों के लोगों पर लागू होगी, हमें इस बात में संदेह है कि समान न्याय की अपेक्षा कोई अन्य तत्व भी है जिसे अधिक वरीयता दी जानी चाहिए, सिवाय उस जन-आस्था के जिसकी हमने प्रतिज्ञा कर रखी है।

शायद यह कल्पना की गई होगी कि समान न्याय का सिद्धांत स्थापित व्यवस्था को ध्वस्त कर देगा। पर सच बात तो यह है कि स्थापित व्यवस्था का बाल भी बांका नहीं हुआ और इसके बावजूद वह उसी तरह से कार्यान्वित हो रही है, जैसे वह पहले होती थी। प्रश्न किया जा सकता है कि समान न्याय का सिद्धांत अपना प्रभाव डालने में विफल क्यों रहा। इसका जवाब सीधा है। न्याय के सिद्धांत की उद्घोषणा करना एक बात है और इसे प्रभावशाली बनाना दूसरी बात है। समान न्याय का सिद्धांत कारगर होता है या नहीं, यह आवश्यक रूप से प्रशासनिक अधिकारियों के स्वभाव और आचरण पर निर्भर करता है, जिन्हें इसका पालन करना है। यदि प्रशासनिक पक्ष स्थापित व्यवस्था के प्रति उसी वर्ग का होने के कारण सहानुभूति रखकर उसका पक्ष लेगा और नई व्यवस्था के प्रति वैर-भाव रखेगा, तो नई व्यवस्था कदापि लागू नहीं हो सकती। नई व्यवस्था की सफलता के लिए प्रशासन के तदनुरूप होने की आवश्यकता कार्ल मार्क्स द्वारा 1871 में पेरिस नगर परिषद् के गठन के अवसर पर स्वीकार की गई थी और इस सिद्धांत को लेनिन ने सोवियत साम्यवाद के संविधान में लागू किया था। दुर्भाग्य से अंग्रेज सरकार ने प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों के बारे में कभी ध्यान नहीं दिया। यथार्थ तो यह है कि उसने उन्हीं लोगों के लिए प्रशासन संभालने के द्वार खोल दिए, जो हिंदुओं की स्थापित व्यवस्था में विश्वास रखते हैं, जहां समानता के लिए कोई स्थान नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में राज तो अंग्रेजों का रहा और शासन हिंदू चलाते रहे। प्रशासनिक अधिकारियों के बारे में थोड़े से ही आंकड़ें इस तथ्य को उजागर कर देंगे।

भारत की राजधानी से लेकर गांवों तक पूरे प्रशासन पर हिंदू कुंडली मारे बैठा है। हिंदू सर्वशक्तिमान की तरह है, जो प्रशासन की शाख पर बैठा है और कोने-कोने में हाथ फैलाए हुए है। कहीं ऐसा सूराख नहीं, जिसमें से घुसकर कोई पुरानी व्यवस्था का विरोधी गुजर सके। कोई भी विभाग हो, राजस्व, पुलिस या न्याय, जहां भी देखिए, हिंदू जमे हुए हैं। यदि स्थापित

व्यवस्था अब भी चली आ रही है, तो इसका कारण है कि उसे सरकार के हिंदू अधिकारियों का अटूट समर्थन प्राप्त है। हिंदू अधिकारी अपनी योग्यता के आधार पर ही शासन नहीं कर रहे हैं। वे लोगों पर उनकी जाति-कुजाति को ध्यान में रखकर प्रशासन कर रहे हैं। उनका सिद्धांत सभी के लिए एक जैसा न्याय देना नहीं है। स्थापित व्यवस्था के अनुरूप न्याय उनका आदर्श है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि स्थापित व्यवस्था में समाज के विभिन्न वर्गों के प्रति दृष्टिकोण को वे प्रशासन का आधार मानते हैं। प्रशासन के क्षेत्र में अस्पृश्यों के प्रति सरकार के अधिकारियों का जो दृष्टिकोण है, उससे यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है।

प्रत्येक अस्पृश्य इस बात का गवाह है कि जब कोई अस्पृश्य किसी सवर्ण हिंदू के विरुद्ध शिकायत दर्ज कराने पुलिस अधिकारी के पास जाता है तो उसे संरक्षण के स्थान पर ढेर सारी गालियां सुनने को मिलती हैं। या तो उसे बिना रिपोर्ट लिखे भगा दिया जाता है या रिपोर्ट ऐसी झूठी लिखी जाती है कि उसमें स्पृश्य को बच निकलने का कोई न कोई रास्ता अवश्य छोड़ दिया जाता है। यदि वह किसी मजिस्ट्रेट की अदालत में मुकदमा ले जाता है तो उस पर क्या कार्रवाई होगी, यह पहले ही मालूम हो जाती है। किसी अस्पृश्य को कोई हिंदू गवाही देने के लिए नहीं मिलेगा, क्योंकि गांव में पहले ही षड्यंत्र रच दिया जाता है कि कोई भी अस्पृश्य की हिमायत में नहीं उठेगा, चाहे सच कुछ भी क्यों न हो। यदि वह किसी अस्पृश्य को गवाही देने के लिए ले आएगा तो मजिस्ट्रेट गवाही को स्वीकार ही नहीं करेगा, क्योंकि वह आसानी से कह देगा कि यह तो उसी का हितैषी है, इसलिए उसे स्वतंत्र गवाह नहीं कहा जा सकता। यदि स्वतंत्र गवाह है भी तो मजिस्ट्रेट के सामने एक आसान-सा तरीका यह कह देना है कि उसे अस्पृश्य के पक्ष में गवाह सच्चा नहीं प्रतीत होता। वह निडर होकर ऐसा फैसला सुना देगा, क्योंकि उसको पता है कि उसके ऊपर कोई अदालत उसके इस फैसले को नहीं बदलेगी, क्योंकि यह एक स्थापित नियम है कि अपील सुनने वाली अदालत मजिस्ट्रेट के फैसले में दखल न दे, जो गवाहियों पर आधारित है और जिनकी उसने जांच नहीं की है।

ऐसे भेदभाव होते हैं, इस बात को अब कांग्रेस ने भी स्वीकार कर लिया है। 7 मार्च 1938 के *'हिंदू'* के अंक में प्रकाशित तमिलनाडु हरिजन सेवक संघ की 30 सितंबर 1937 की सालाना रिपोर्ट में कहा गया है :

"इन अधिकारों के कारण दूर-दराज के गांवों में भी हरिजनों में राजनैतिक जागृति आ गई है, जहां केवल पुलिस का राज चलता है और जहां इन अधिकारों की मांग करना हरिजनों के लिए हमेशा संभव नहीं होता, क्योंकि अधिकारों की मांग करने का अर्थ सवर्णों और उनके बीच मारपीट होता है, इस मारपीट में सवर्णो का हाथ ऊपर रहता है। इस मारपीट का स्वाभाविक परिणाम या तो पुलिस में या मजिस्ट्रेट को शिकायत दर्ज कराना होता है। मजिस्ट्रेट को शिकायत करना हरिजन के लिए आर्थिक दृष्टि से संभव नहीं होता और पुलिस में शिकायत करने का नतीजा और भी खराब होता है। अनेक मामलों में इन शिकायतों की कभी कोई जांच नहीं होती, कई अन्य मामलों में सदा सवर्णों के पक्ष में ही निर्णय दर्ज किया जाता है। पुलिस में हमने जो शिकायतें कीं उनका भी यही परिणाम हुआ। हमें ऐसा लगता है कि पुलिस के निचले कर्मचारियों के दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। या तो वे हरिजनों के अधिकारों से नावाकिफ हैं, जिनकी रक्षा करने की उनसे अपेक्षा होती है या वे सवर्णों के प्रभाव में आ जाते हैं। यह भी हो सकता है कि वे बिल्कुल ही उदासीन रहते हैं। अन्य मामलों में अमीर सवर्ण की तरफदारी भ्रष्टाचारवश की जाती है।"

इससे स्पष्ट है कि हिंदू अधिकारी अस्पृश्यों के कितने विरोधी और हिंदुओं के कितने तरफदार होते हैं। अगर उनके सामने अपने अधिकार या अपने विवेक के इस्तेमाल का सवाल उठता है, तब उनका निर्णय अस्पृश्यों के खिलाफ ही होता है।

पुलिस कर्मचारी और मजिस्ट्रेट अक्सर भ्रष्ट होते हैं। अगर वे सिर्फ भ्रष्ट हों तो स्थिति इतनी खराब न हो, क्योंकि जो अधिकारी भ्रष्ट होता है, वह किसी भी पक्ष के द्वारा खरीदा जा सकता है। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि पुलिस कर्मचारी और मजिस्ट्रेट भ्रष्ट होने की अपेक्षा अधिक पक्षपातपूर्ण होते हैं। हिंदुओं के प्रति उनके इस पक्षपातपूर्ण और अस्पृश्यों के प्रति विरोधपूर्ण रवैए के कारण अस्पृश्यों को सुरक्षा और न्याय नहीं मिल पाता। एक के प्रति पक्षपात और दूसरे के प्रति विरोध का कोई निदान नहीं है, क्योंकि यह सामाजिक और धार्मिक नफरत की भावना पर आधारित है, जो प्रत्येक हिंदू में जन्मजात होती है। पुलिस और मजिस्ट्रेटों को अपनी प्रेरणाओं, हितों और संस्कारों के कारण अस्पृश्यों की भावनाओं के साथ सहानुभूति नहीं होती।

वे उस अभाव, पीड़ा, लालसा और इच्छाओं से अनुप्राणित नहीं होते, जो अस्पृश्यों को अद्वेलित किए रहती हैं। इसके फलस्वरूप वे लोग अस्पृश्यों की आकांक्षाओं के प्रति खुलकर विरोधी और विद्वेषपूर्ण हो जाते हैं, प्रगति करने में उनकी सहायता नहीं करते, उनके हित की उपेक्षा करते हैं और ऐसी हर चीज को काट देते हैं, जिसमें अस्पृश्यों को गर्व और आत्म-सम्मान मिल सके। दूसरी ओर, वे हिंदुओं का उनके हर काम में साथ देते हैं, उनके साथ पूरी सहानुभूति रखते हैं, जिससे उनकी शक्ति, क्षमता, मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा बनी रहे। जब कभी इन दोनों में संघर्ष होता है, तब वे अस्पृश्यों के इस विद्रोह को कुचलने में हिंदुओं के एजेंट का काम करते हैं और प्रकट रूप से और निर्लज्ज होकर हिंदुओं के हर घिनौने काम में हर संभव, उचित-अनुचित सहायता भी देते हैं, जिससे अस्पृश्यों को उनकी करनी का फल चखाया जा सके और वे ऊपर उठने न पाएं।

इसका सबसे अधिक बुरा पक्ष यह है कि यह सब अन्याय और उत्पीड़न कानून की सीमाओं के अंदर किया जा सकता है। कोई हिंदू यह साफ तौर पर कह सकता है कि वह किसी भी अस्पृश्य को नौकरी पर नहीं लगाएगा, वह उसे कुछ भी नहीं बेचेगा, वह उसे अपने खेतों से बेदखल कर देगा, किसी कानून को तोड़े बिना भी वह उसके जानवर अपने खेतों से होकर नहीं जाने देगा। वह ऐसा कर अपने अधिकार का ही उपयोग कर रहा है। कानून को इस बात की परवाह नहीं कि इस सबके पीछे उसका इरादा क्या है। कानून यह नहीं देखता कि इससे उस अस्पृश्य को कितनी हानि हो रही है। पुलिस अपनी शक्ति और अपने अधिकार का दुरुपयोग कर सकती है। पुलिस अधिकारी इस बात को दर्ज कर, जो कही ही नहीं गई या ऐसी बात को दर्ज कर, जो कही गई बात से बिल्कुल भिन्न है, जान-बूझकर अपने रिकार्ड तोड़-मरोड़ सकता है। वह उस पक्ष को गवाहों के नाम-पते आदि बता सकता है, जिसमें उसका स्वार्थ होता है। वह किसी को गिरफ्तार करने से मना कर सकता है। वह किसी मामले को खत्म कर देने के लिए हजार काम कर सकता है। वह यह सब काम पकड़े जाने के डर के बिना कर सकता है। कानून में बहुत-सी कमियां हैं और वह इन कमियों को अच्छी तरह जानता है। मजिस्ट्रेट ने उसे अपने विवेक का इस्तेमाल करने के लिए पूरी तरह छूट दे रखी है। वह उसका इस्तेमाल करने के लिए पूरी तरह आजाद है। किसी भी मामले का निर्णय गवाहों

पर निर्भर करता है, जो गवाही दे सकते हैं। लेकिन मुकदमे का निर्णय इस बात पर निर्भर करता है कि क्या गवाहियां विश्वसनीय हैं या नहीं। यह मजिस्ट्रेट पर निर्भर करता है कि वह किस पर विश्वास और किस पर अविश्वास करता है। वह किसी भी पक्ष पर विश्वास करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है और वह जो कुछ करता है, वह उसका अपना विवेक होता है, कोई उसके इस विवेक का इस्तेमाल करने में दखल नहीं कर सकता है। ऐसे बहुत से ममाले हैं, जिनमें मजिस्ट्रेट ने अपने विवेक का इस्तेमाल अस्पृश्यों के हितों के खिलाफ किया है। अस्पृश्यों की गवाहियां चाहे कितनी भी सच्ची क्यों न हों, मजिस्ट्रेट सभी मामलों में एक ही बात कह देता है कि' मुझे गवाहों पर विश्वास नहीं है,' और किसी ने भी उसके इस विवेक के बारे में सवाल नहीं किया है। क्या दंड देना है, यह भी मजिस्ट्रेट के विवेक पर निर्भर करता है। कुछ ऐसे भी निर्णय होते हैं, जिनके खिलाफ अपील नहीं की जा सकती। अगर उचित न्याय नहीं हुआ है, तो उचित न्याय पाने का एक रास्ता यही अपील होती है। मजिस्ट्रेट द्वारा यह कह दिया जाता है कि इस मामले में दिए गए निर्णय के खिलाफ अपील नहीं हो सकती।

अगर हिंदू समाज स्थापित व्यवस्था को बनाए रखने में अपनी भूमिका का निर्वाह कर रहा है, तो वैसा ही सरकार के हिंदू अधिकारी भी कर रहे हैं। इन दोनों ने मिलकर इस स्थापित व्यवस्था को अभेद्य बना दिया है।

□□

13

भेदभाव की समस्या

अस्पृश्यों को जिन गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनमें क्रम से इंसानों का दर्जा पाने की समस्या के बाद दूसरी समस्या भेदभावपूर्ण व्यवहार की आती है। अस्पृश्यों के साथ हिंदुओं द्वारा कितना भेदभाव किया जाता है, इसके परिणाम की कल्पना करना किसी विदेशी व्यक्ति के लिए असंभव है। जीवन में कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जहां अस्पृश्य और हिंदुओं की एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा न होती हो और जिसमें अस्पृश्यों के साथ भेदभाव न किया जाता हो। यह भेदभाव बहुत ही मर्मांतक तरीके का होता है।

सामाजिक संबंध, जैसे आमोद-प्रमोद, खान-पान, खेलकूद और पूजा-पाठ के मामले में यह प्रतिबंध का रूप ले लेता है। इस कारण साधारण से साधारण क्षेत्र में भी भाग लेने पर रोक लग जाती है।

सार्वजनिक सुविधाओं के क्षेत्र में यह भेदभाव अस्पृश्यों को स्कूलों, कुओं, मंदिरों और यातायात से वंचित कर देता है। सार्वजनिक प्रशासन अस्पृश्यों के प्रति भेदभाव से सबसे अधिक प्रभावित है। इसने कचहरियों, सरकारी विभागों, सहकारी बैंकों, विशेषकर पुलिस को प्रभावित किया है। भूमि, ऋण और नौकरियां प्राप्त करने के मामले में तो यह खुल्लम-खुल्ला देखने को मिलता है। यह सबसे ज्यादा नौकरियों के क्षेत्र में है। हालांकि कोई विनियम नहीं है, लेकिन कुछ ऐसे सर्वमान्य नियम जरूर हैं, जो नौकरियों में अस्पृश्यों के प्रवेश और उनकी प्रोन्नति को नियंत्रित करते हैं। अस्पृश्यों को अक्सर प्रवेश नहीं मिलता। इनके लिए सारे विभाग बंद हैं। कपड़ा मिलों में बुनाई विभाग, सेना के सभी अंग अस्पृश्यों के लिए बंद हैं। अगर उसे प्रवेश मिल भी जाए, तब वहा पूर्व निर्धारित एक स्तर होता है जिसके बाद अस्पृश्य

आगे उठ नहीं सकता, चाहे वह कितना ही कुशल या पुराना क्यों न हो। जिस सिद्धांत का आमतौर पर पालन किया जा रहा है, वह यह है कि अस्पृश्य को हिंदुओं के ऊपर कोई प्रशासनिक अधिकार वाला पद नहीं दिया जाएगा। इसका परिणाम यह होता है कि जब तक कि किसी पूरी शाखा को अस्पृश्यों के हवाले न कर दिया जाए, तब तक परिणामस्वरूप बहुत थोड़े पद ऐसे होंगे, जो अस्पृश्यों द्वारा भरे जा सकें। ठोस उदाहरण के रूप में कहा जाए तो नौकरी में सिर्फ एक क्षेत्र ही ऐसा है, जहां अस्पृश्यों के साथ कोई भेदभाव नहीं है और वह है, सफाई का काम। इस क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा की कोई जरूरत भी नहीं है, क्योंकि सारे के सारे पद अस्पृश्यों के लिए होते हैं और इस क्षेत्र में हिंदुओं की उनके साथ कोई प्रतिस्पर्धा नहीं होती। लेकिन यहां भी ऊंचे पदों के भरे जाने के मामले में भेदभाव बरता जाता है। सभी गंदा काम अस्पृश्यों द्वारा किया जाता है। लेकिन सभी पर्यवेक्षी पद जिनके वेतन अधिक होते हैं और जिनका गंदगी से कोई वास्ता नहीं होता, हिंदुओं के द्वारा भरे जाते हैं। इस परिस्थिति में नागरिकता के अधिकार का आशय अस्पृश्यों के अधिकार से नहीं होता। जनता की सरकार और जनता के लिए सरकार का आशय अस्पृश्यों के लिए सरकार से नहीं होता सभी के लिए समान अवसर का आशय अस्पृश्यों के लिए समान अवसर नहीं होता, समान अधिकार का आशय अस्पृश्यों के लिए समान अधिकार नहीं होता। सारे देश में कोने-कोने में अस्पृश्यों को अड़चनों का सामना करना पड़ता है, भेदभाव सहन करना पड़ता है, उनके साथ अन्याय होता है, वे भारत के सबसे अधिक दीन-हीन लोग हैं। यह कितना सच है, यह केवल अस्पृश्य जानते हैं, जिन्हें मुसीबतें उठानी पड़ती हैं। यह भेदभाव अस्पृश्यों के रास्ते में सबसे कठिन बाधा है। यह उनको इससे उबरने नहीं देती। इसके कारण उन्हें प्रतिक्षण किसी न किसी का, बेरोजगारी का, दुर्व्यवहार का, उत्पीड़न आदि का डर बना रहता है। यह असुरक्षा की जिंदगी होती है।

भेदभाव का एक और रूप भी है जो हालांकि बहुत ही अप्रत्यक्ष होता है, तथापि यह बहुत ही ठोस होता है। इसके अधीन सुयोग्य अस्पृश्यों की प्रतिष्ठा और उनकी मर्यादा को कम करने के सुनियोजित प्रयत्न किए जाते हैं। एक हिंदू नेता को एक महान भारतीय नेता बताया जाता है। कोई उसे कश्मीरी ब्राह्मणों का नेता नहीं कहता, हालांकि वह कश्मीरी ब्राह्मण होता है। अगर कोई नेता अस्पृश्य जाति का होता है, तब उसके बारे में यह

कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति अस्पृश्यों का नेता है। हिंदू डाक्टर को एक महान भारतीय डाक्टर बताया जाता है। कोई उसे अयंगार नहीं कहता, भले ही वह अयंगार क्यों न हो। अगर कोई डाक्टर अस्पृश्य जाति का होता है, तब यह कहा जाता है कि अमुक डाक्टर अस्पृश्य जाति का है। हिंदू गायक के बारे में कुछ भी कहते समय यह कहा जाता है कि वह एक महान भारतीय गायक है। अगर वही व्यक्ति अस्पृश्य जाति का हो, तब उसे अस्पृश्य जाति वाला गायक कहा जाता है। किसी हिंदू कुश्तीबाज का वर्णन करते समय उसे भारत का एक महान कुश्तीबाज कहा जाता है। अगर वह अस्पृश्य जाति का हो, तब उसे अस्पृश्य जाति का कुश्तीबाज बताया जाता है।

इस प्रकार के भेदभाव का मूल हिंदुओं की इस विचारधारा में है कि अस्पृश्य लोग हीन होते हैं और वे चाहे जितने योग्य हों, उनके महान व्यक्ति केवल अस्पृश्यों के लिए महान हैं। वे उन व्यक्तियों से महान नहीं हो सकते और न उनके बराबर हो सकते हैं, जो हिंदुओं में महान हैं। इस प्रकार भेदभाव यद्यपि सामाजिक होता है, परंतु यह आर्थिक भेदभाव से कम कष्टदायक नहीं होता है।

स्वतंत्रता के अभाव का ही दूसरा नाम भेदभाव है। जैसा कि श्री टोनी का कथन है[1] :

> स्वतंत्रता जैसी कोई चीज दुनिया में नहीं है, जो विशिष्ट काल और स्थान से अप्रभावित रहती हो। इसका चाहे जो आशय हो या न भी हो, इसमें कई विकल्पों में से चयन करने की शक्ति निहित रहती है, विकल्पों में से यह चयन यथार्थ होता है, केवल सांकेतिक नहीं होता, इसकी सत्ता वास्तविक होती है, सिर्फ कागजों पर ही नहीं रहती। संक्षेप में, इसका आशय कुछ करने की योग्यता से या किन्हीं निश्चित परिस्थितियों में, निश्चित क्षण में, निश्चित कार्य करने से विरत रहने से या इसका आशय कुछ भी नहीं होता है, क्योंकि कोई व्यक्ति जब कुछ सोचता है, इच्छा करता है और कुछ करता है, तब वह प्रायः कोई व्यक्ति होता है, इस स्वतंत्रता में वह सब-कुछ होता है, जिसके बारे में कवियों ने कह रखा है, लेकिन प्रतिदिन के जीवन के गद्य में यह बिल्कुल

1. *'वी मीन फ्रीडम इन वाट लेबर कैन डू',* पृ. 83-85

व्यवहारिक और वास्तविक होता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अपेक्षाएं होती हैं – इनमें भौतिक जीवन के लिए जरूरी चीजों के साथ वाणी और लिपि के द्वारा स्वयं को अभिव्यक्त करने की भी अपेक्षा शामिल हैं, समान हित के कार्यों में भाग लेने और अपने-अपने ढंग से ईश्वर की आराधना करने या उसकी आराधना से विरत रहने की अपेक्षा भी शामिल है, अर्थात जो कुछ उसके कल्याण के लिए आवश्यक है, उसे प्राप्त करने का संतोष। इन सारी अपेक्षाओं में से अगर मूल अपेक्षा को ही ग्रहण किया जाए, तब उसकी स्वतंत्रता प्रकृति द्वारा नियत सीमाओं में उसके द्वारा प्राप्त किए गए अवसर और उसके संगी-साथियों द्वारा समान अवसरों का उपभोग करने और यह सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक कार्रवाई करने में निहित है कि ये अपेक्षाएं पूरी हों।

मेरा इरादा इन स्वतंत्रताओं के लिए आवश्यक अधिकारों की एक और सूची जोड़ने का नहीं है, क्योंकि इनकी सूची तो पहले से ही विद्यमान है। लेकिन दो बातें ऐसी हैं, जो इन सभी पर लागू होती हैं। पहली बात तो यह कि यदि स्वतंत्रता के लिए अधिकारों को प्रभावी होना है, तब वे इस प्रकार न बनाए जाए, जैसे जिन लोगों में आर्थिक सामर्थ्य है, वे सभी रिट्ज होटल में खा-पी सकते हैं। वे ऐसे होने चाहिए कि जब कभी उन्हें प्रयोग करने का अवसर आए तब उनका वास्तविक रूप में प्रयोग किया जा सके। मत देने और एकजुट होने के अधिकार हालांकि पूरी तरह मूल्यहीन नहीं होते, तो भी वे स्पष्ट रूप से तब निष्प्रभावी हो जाते हैं, जब पहले का परिणाम निष्कासन और दूसरे का परिणाम सर्वनाश होता है। अगर किसी व्यवसाय में प्रवेश का खर्च अपनी शक्ति से ज्यादा हो तो ये किसी व्यवसाय को चुनने का बेरोक अधिकार, अगर कोई गरीब आदमी न्याय की कीमत न चुका सके तब न्याय पाने का अधिकार, अगर वातावरण ऐसा हो कि जिसमें यह सुनिश्चित कर दिया गया हो कि जितने बच्चे पैदा हुए हैं, उनमें से अधिकांश जन्म के बाद बारह महीने में मर जाएंगे, तब कोई आशा करना मानो अपनी सारी पूंजी को जुए में दांव पर लगा बैठना है। दूसरी बात यह है कि जो अधिकार स्वतंत्रता के लिए आवश्यक हैं, वे ऐसे होने चाहिए जो न केवल अल्पसंख्यकों को, बल्कि सभी के लिए प्रत्येक स्वतंत्रता सुनिश्चित कर सकें। किसी मनीषी ने कहा है कि अगर पांच प्रतिशत जनसंख्या पत्नीत्व अपनाए हुए है और अधिकांश का जीवन समस्याओं से ग्रस्त है, पति-पत्नी

अपने दायित्व को नहीं समझते हैं, तब विवाह को राष्ट्रीय संस्था नहीं कहा जा सकता। यही बात स्वतंत्रता के लिए सच है। जिस समाज में कुछ वर्गों के लोग जो कुछ चाहें वह सब-कुछ कर सकें और बाकी वह सब भी न कर सकें जो उन्हें करना चाहिए, उस समाज के अपने गुण होते होंगे, लेकिन इनमें स्वतंत्रता शामिल नहीं होगी। यह समाज वहीं तक स्वतंत्र है, सिर्फ वहीं तक स्वतंत्र है, जहां तक इसे संगठित करने वाले सभी तत्व वास्तव में, केवल सिद्धांत में ही नहीं, अपनी शक्ति का अधिकाधिक प्रयोग कर सकते हैं, अपना पूर्ण विकास कर सकते हैं, वह सब-कुछ कर सकते हैं, जिसे वे अपना कर्तव्य समझते हैं, और – चूंकि स्वतंत्रता को कठोर नहीं होना चाहिए– जब वे अपने डैनों को फैलाना चाहें तब वे उन्हें फैला सकें। अगर इंसानों के अनुरूप जीने की सुविधा कुछ लोगों तक ही सीमित है, तब जिस सुविधा को आमतौर पर स्वतंत्रता कहा जाता है, उसे विशेषाधिकार कहना अधिक उचित होगा।

अस्पृश्यों के प्रति भेदभाव हिंदुओं की उन गंभीर और तीव्र तिरस्कार की भावनाओं की प्रतिच्छवि है जो कानून और प्रशासन में भी मिलती है, यह कानून और प्रशासन अस्पृश्यों के विरुद्ध हिंदुओं और उनमें भेदभाव को उचित ठहराता है। इस भेदभाव का मूल हिंदुओं के हृदयों में बसे हुए इस भय में निहित है कि मुक्त समाज में अस्पृश्य अपनी निर्दिष्ट स्थिति से ऊपर उठ जाएंगे और हिंदू सामाजिक व्यवस्था के लिए खतरा बन जाएंगे, जिसका आधारभूत आदर्श अस्पृश्यों की तुलना में हिंदुओं की वरीयता और उनके प्रभुत्व को बनाए रखना है। जब तक यह हिंदू सामाजिक व्यवस्था बनी रहेगी, तब तक अस्पृश्यों के प्रति भेदभाव भी बना रहेगा।

□□

14

अलग-थलग स्थिति की समस्या

अस्पृश्यों का आंदोलन क्यों सफल नहीं हुआ है? क्या उनके कोई समर्थक नहीं हैं? यदि हैं, तो वे अस्पृश्यों की सहायता और उनसे सहयोग क्यों नहीं करते? यह बड़ा ही संगत सवाल है और इस सवाल को ठीक-ठीक समझना भी आवश्यक है। इस सवाल का जवाब देने के पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि हिंदू समाज का गठन क्या है और उसमें कौन-कौन से वर्ग शामिल हैं?

हिंदू समाज का ढांचा जटिल है और जिस किसी का जीवन इसके ताने-बाने से जुड़ा नहीं है, उसके लिए इसकी बनावट को समझ पाना कठिन है। हो सकता है कि इसे एक रेखाचित्र की सहायता से समझने में कुछ आसानी हो। इसलिए यहां नीचे मैं एक रेखाचित्र दे रहा हूं। मेरा विचार है कि इससे हिंदुओं के सामाजिक ढांचे को समझने में सुविधा होगी :
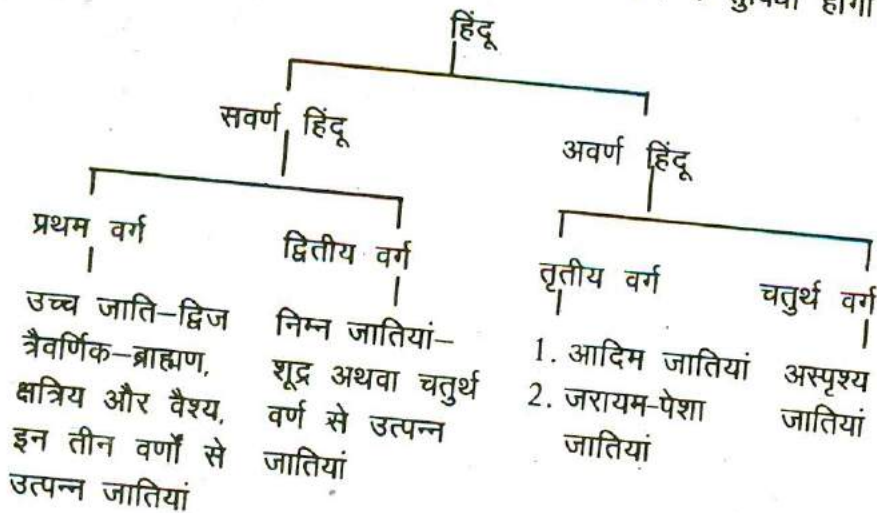
इस रेखाचित्र से पता चलता है कि हालांकि हिंदुओं की अनगिनत जातियां हैं, पर उन्हें चार वर्गों में समेटा जा सकता है। इन चार वर्गों में से प्रथम वर्ग शासक वर्ग है और द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ग शासित लोगों के वर्ग हैं।

अब हम इस बात पर विचार करें कि इन वर्गों में से कौन से अस्पृश्यों के सहज मित्र हो सकते हैं।

हिंदू समाज के विशेषाधिकार वाले लोग प्रथम वर्ग में आते हैं। उन्होंने ही हिंदू समाज-व्यवस्था की रचना की। केवल उन्हीं को इस व्यवस्था से लाभ होता है और इस वर्ग के लोगों का लक्ष्य इस व्यवस्था की रक्षा करना है। दो मित्र और दो संगी-साथी सामुदायिक हित या वैचारिक सामीप्य के कारण एक-दूसरे से असहमत नहीं हो सकते।

जरायम-पेशा और आदिम जातियों की क्या स्थिति है? उनके पास हिंदू समाज-व्यवस्था को उलट देने का सबसे अधिक सशक्त कारण है।

शूद्रों की क्या स्थिति है?

द्वितीय वर्ग यानी शूद्रों के लिए हिंदू समाज-व्यवस्था के नियम उतने ही घृणास्पद हैं, जितने कि चतुर्थ वर्ग यानी अस्पृश्यों के लिए। हिंदू समाज में, जिसकी व्यवस्था उसके नियम-निर्माता मनु ने की है, शूद्रों की स्थिति बड़ी विचित्र है। विषय को सरलता से समझा जा सके, इसके लिए अलग-अलग शीर्षकों के अधीन शूद्रों की स्थिति संबंधी नियम नीचे दिए जा रहे हैं :

ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के गृह-स्वामियों से मनु कहता है :

> 4.61. – "वह ऐसे देश में निवास न करें, जहां शूद्र शासक होते हों"।

शूद्र को सम्माननीय व्यक्ति नहीं समझा जाना चाहिए, क्योंकि मनु ने यह व्यवस्था दी है :

> 11.24. – "कोई भी ब्राह्मण यज्ञ करने यानी धार्मिक प्रयोजनों के लिए कभी भी शूद्र से धन नहीं मांगेगा"।

शूद्र के साथ सभी विवाह-संबंध पूर्णतया वर्जित थे। अन्य तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) में से किसी भी वर्ग की स्त्री के साथ विवाह वर्जित था। कोई भी शूद्र उच्च जातियों की किसी स्त्री के साथ किसी प्रकार का

कोई संबंध नहीं रख सकता था, और यदि कोई शूद्र उसके साथ जार कर्म करता है, तो मनु के विचार में वह ऐसा अपराध करता है, जिसके लिए मृत्यु-दंड है।

8.374. – जिस किसी शूद्र ने किसी उच्च वर्ग की रक्षित या अरक्षित स्त्री के साथ संभोग किया है, उसे निम्नलिखित रीति से दंड दिया जाए, यदि वह अरक्षित थी तब उसका लिंग कटवा दिया जाए, यदि वह रक्षित थी तब उसे प्राण-दंड दिया जाए और उसकी संपत्ति जब्त कर ली जाए।

8.20. – कोई भी ब्राह्मण जो जन्म से ब्राह्मण है, अर्थात जिसने न तो वेदों का अध्ययन किया है और न वेदों द्वारा अपेक्षित कोई कर्म किया है, वह राजा के अनुरोध पर उसके लिए धर्म का निर्वचन कर सकता है, अर्थात न्यायाधीश के रूप में कार्य कर सकता है, लेकिन शूद्र यह कार्य नहीं कर सकता (चाहे वह कितना ही विद्वान क्यों न हो)।

8.21. – जिस राज्य में उसका राजा दर्शक की भांति केवल देखता रहता है उसी की ही उपस्थिति में शूद्र न्याय का विचार कर सकता है, यह राज्य उसी प्रकार अधोगति को प्राप्त होता है जिस प्रकार गाय दलदल में नीचे को धंस जाती है।

8.272. – अगर कोई शूद्र उद्दंडतापूर्वक ब्राह्मण को धर्मोपदेश देने का साहस करता है, तब राजा उसके मुंह और कानों में खौलता हुआ तेल डलवाए।

विद्या और ज्ञान के अर्जन के बारे में मनु का आदेश है :

3.156. – जो कोई शूद्र शिष्यों को शिक्षा देता है और जिसका गुरु कोई शूद्र है, वह श्राद्ध में निमंत्रित होने के अयोग्य हो जाता है।

4.99. – उसे शूद्रों की उपस्थिति में वेदों का कभी भी अध्ययन नहीं करना चाहिए।

वेदाध्ययन करने पर शूद्र को कितना कठोर दंड दिया जाए, इस बारे में मनु के उत्तराधिकारी भी उसे मात कर गए। जैसे कि, कात्यायन का कहना है कि शूद्र कहीं से भी वेद को सुन ले या वह वेद के एक शब्द के भी उच्चारण करने का साहस कर दे, तब राजा को चाहिए कि वह उसकी जीभ को चिरवा दे और उसके कानों में पिघला सीसा डलवा दे।

संपत्ति के बारे में शूद्र के लिए मनु की व्यवस्था है :

10.129. – किसी भी शूद्र को संपत्ति का संग्रह नहीं करना चाहिए, चाहे वह इसके लिए कितना ही समर्थ क्यों न हो, क्योंकि जो शूद्र धन का संग्रह कर लेता है, उसे उसका मद हो जाता है और वह अपने उद्धत या उपेक्षापूर्ण व्यवहार से ब्राह्मणों को कष्ट पहुंचाता है।

8.417. – यदि किसी ब्राह्मण का जीवन संकटग्रस्त हो, तो वह निस्संकोच शूद्र के धन को अधिग्रहीत कर ले।

शूद्र का केवल एक ही व्यवसाय है। इस संबंध में भी मनु का एक अकाट्य नियम है। मनु कहता है :

1.91. – ब्रह्मा ने शूद्र के लिए एक ही कर्तव्य निर्धारित किया है कि वह विनम्रतापूर्वक इन तीन जातियों अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करे।

10.21. – यदि कोई शूद्र (ब्राह्मणों की सेवा के द्वारा) अपना जीवन-निर्वाह करने में असमर्थ है और जीवन-निर्वाह का साधन चाहता है, तब वह किसी धनी वैश्य की भी सेवा कर अपना जीवन-निर्वाह करे।

10.122. – लेकिन शूद्र ब्राह्मणों की सेवा करे चाहे स्वर्ग के लिए हो या चाहे दोनों उद्देश्यों के लिए (अर्थात इस जीवन और इससे अगले जन्म के लिए) हो क्योंकि वह जो ब्राह्मण का सेवक कहा जाता है, अपने सभी उद्देश्यों को प्राप्त कर लेता है।

10.123. – ब्राह्मणों की सेवा करना शूद्र के लिए एकमात्र उत्तम कर्म कहा गया है, क्योंकि इसके अतिरिक्त वह जो कुछ करता है, उसका इसे कुछ भी फल नहीं मिलता।

शूद्र द्वारा सेवा को मनु एक करार मानता है। यदि कोई शूद्र सेवा से इंकार करता है तो सेवा करने के लिए मजबूर किए जाने की भी व्यवस्था है। यह व्यवस्था इस प्रकार है :

8.413. – ब्राह्मण शूद्र को चाहे तो खरीद कर या खरीदे बिना भी सेवा-कर्म करने के लिए बाध्य कर सकता है, क्योंकि ब्रह्मा ने शूद्रों की सृष्टि ब्राह्मणों की सेवा करने के लिए की है।

10.124. – उनको चाहिए कि वे उसकी योग्यता, उसके परिश्रम और यह ध्यान में रखकर कि उसे कितने अश्रितों का पालन-पोषण करना है, अपने परिवार (की संपत्ति में से) उसके लिए उचित अंश जीवन-निर्वाह के लिए नियत करें।

10.125. – उसके लिए बचा हुआ भोजन और पुराने खाट-बर्तन आदि दिए जाएं।

मनु की अपेक्षा है कि अन्य सवर्णों के प्रति शूद्र को वाणी और व्यवहार से विनीत होना चाहिए।

8.270. – जो शूद्र व्यक्ति द्विज को दारुण वचन कह उसकी अवमानना करता है, उसकी जीभ कटवा देनी चाहिए क्योंकि वह नीच कुलोद्भव है।

8.271. – यदि वह द्विज का नाम और उसकी जाति का उल्लेख अपमान के तौर पर करता है तब उसके मुख में दस अंगुल लंबी दहकती हुई लोहे की कील डाल दी जाए।

मनु केवल इतने से ही संतुष्ट नहीं है। वह चाहता है कि शूद्र जाति के लोगों के नामों तथा उपनामों से भी शूद्र की दासता व्यक्त हो। मनु कहता है :

2.31. – ब्राह्मण के नाम का पहला भाग ऐसा हो जो शुभ हो, क्षत्रिय का शक्ति से संबंधित, वैश्य का संपत्ति से और शूद्र का पहला नाम ऐसा हो जो तिरस्कारणीय भाव का सूचक हो।

2.32. – ब्राह्मण के नाम का दूसरा भाग ऐसा (शब्द) हो जिसमें सुख का भाव निहित हो, क्षत्रिय का ऐसा हो जिसमें रक्षा का भाव और वैश्य का ऐसा हो जिसमें समृद्धि का भाव तथा शूद्र का ऐसा हो जो सेवा-कार्य का भाव सूचित करे।

जाहिर है कि ये तीनों वर्ग (द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ) एक-दूसरे के समर्थक हैं। वे हिंदू समाज-व्यवस्था को मिटाने के लिए एकजुट हो सकते हैं। पर वे एकजुट नहीं हुए। ऐसा नहीं है कि उन्हें एकजुट करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया है। ब्राह्मण जो हिंदू सामाजिक व्यवस्था के निर्माता हैं और जो इस व्यवस्था से सबसे अधिक लाभान्वित होने के कारण

इसके प्रबलतम समर्थक हैं, उनके प्रभुत्व को नष्ट करने के लिए 1919-1935 के बीच सक्रिय गैर-ब्राह्मणं पार्टी इनको एक राजनैतिक मंच पर संगठित करने की दिशा में एक प्रयास थी।

यह प्रयास इन तीनों वर्गों को संगठित करने का एकमात्र प्रयास नहीं था। एक और प्रयास मजदूर-नेता, खासकर कम्युनिस्ट नेता कर रहे हैं। उनका नारा है कि जाति चाहे जो भी हो, श्रमिक वर्ग के हित एक जैसे हैं। उनमें वर्ग-चेतना और वर्ग-एकता लाई ही जानी चाहिए। यदि वे एक बार एकजुट हो जाए तो अपनी संख्या की भयंकर शक्ति के बल पर अर्थ-व्यवस्था को भंग कर सकते हैं, और यदि एक बार अर्थ-व्यवस्था ध्वस्त हो जाती है, तो निश्चय ही हिंदू समाज-व्यवस्था चूर-चूर हो जाएगी। लेकिन नतीजा क्या निकला? नतीजा यह है कि लोग संगठित नहीं हुए। 'शूद्र, जरायम-पेशा और आदिम जातियां ब्राह्मणों से भी अधिक अस्पृश्यों का विरोध करती हैं। सच तो यह है कि हिंदू समाज-व्यवस्था पर अस्पृश्यों के आक्रमण का सामना करने के लिए शूद्र वस्तुतः ब्राह्मणों के लिए पुलिस की भूमिका अदा करते हैं। यह एक अजीब-सी बात है। लेकिन यह एक हकीकत है। अगर अस्पृश्य इस स्थापित व्यवस्था के नियमों और विनियमों को तोड़ने की कोई कोशिश करते हैं तो उन पर जो अत्याचार किए जाते हैं और जिनका वर्णन पिछले अध्यायों में किया गयां है, वे सबके सब शूद्रों के द्वारा किए जाते हैं।

संगठित न होने के कारणों को खोजना कठिन नहीं है। इसके कारण क्रमिक असमानता की व्यवस्था में मिल सकते हैं, जिसके अनुसार ब्राह्मण सबका सिरमौर बना हुआ है और 'शूद्र' ब्राह्मण के नीचे लेकिन अस्पृश्य से ऊंचे पर हैं। यदि हिंदू समाज-व्यवस्था का आधार सिर्फ असमानता होती तो वह कब की उखाड़कर फेंक दी गई होती। लेकिन वह तो क्रमिक असमानता पर टिकी है। जब शूद्र ब्राह्मण को गिराना चाहता है, तब उस समय वह इस बात के लिए तैयार नहीं होता है कि अस्पृश्य ऊपर उठकर उसकी बराबरी पर आ जाएं। शूद्र ब्राह्मणों द्वारा किए गए घोर अपमान की कड़वी घूंट पीना तो पसंद करता है, पर वह समाज-व्यवस्था को एक समान स्तर पर लाने में अस्पृश्यों का साथ नहीं देता। नतीजा यह है कि अस्पृश्यों के संघर्ष में कोई उनका साथ नहीं देता। अस्पृश्य एकदम अलग-थलग हैं। वे न केवल अलग-थलग हैं, बल्कि उन्हें उन वर्गों का विरोध सहना पड़ रहा है, जिन्हें उनका समर्थक होना चाहिए था। अस्पृश्यता को मिटाने में यह अलग-थलग की स्थिति एक और बड़ी बाधा है।

□□

परिशिष्ट[1]

I

अस्पृश्यता के कारण हालात

बद से बदतर[2]

जयपुर से एक संवाददाता ने जून 1953 की घटना का समाचार भेजा, जो निम्नलिखित है[2] :

"जयपुर, 25 जून : इस राज्य में गिनी वर्म नामक बीमारी फैली हुई है, जिसे यहां के लोग नारू अथवा बाल भी कहते हैं। इसके कारण रोगी को महीनों कष्ट उठाना पड़ता है। कभी-कभी तो एक-दो वर्ष भी लग जाते हैं। इसके कारण अनेक रोगियों के तो अंग बेकार हो जाते हैं।"

यह बीमारी पीने के पानी के माध्यम से फैलती है। इसकी रोकथाम के लिए डाक्टर केवल यही सलाह देते हैं, 'पहले पानी को उबालो, छानो और फिर उसे पीओ।'

यह बीमारी बहुधा उस समय फैलती है, जब वर्षा ऋतु प्रारंभ होती है, जो खेतों में बुवाई का मौसम होता है। इसका नतीजा यह होता है कि जब उसे अपनी कमाई पर लगा होना चाहिए, उस समय वह चारपाई पर पड़ा होता है।

बांसवाड़ा के निकट कोपरा गांव में पूछताछ करने पर पता चला है कि 57 परिवारों में 125 रोगी नारू के शिकार हैं। छह लोगों के एक हरिजन

---

1. परिशिष्टों में छपे सभी प्रेस-समाचार इस पुस्तक की मूल अंग्रेजी की पांडुलिपि के अंत में पाए गए हैं। —संपादक

2. 27 जून 1953 के *'स्टेट्समैन'* में प्रकाशित।

परिवार में पांच लोग नारू बीमारी से पीड़ित हैं। उनके पास खाने के लिए सूखे मांस के मात्र कुछ टुकड़े थे।

यह बला प्रायः समाज द्वारा ही इन लोगों पर थोपी जाती है। जिस तालाब से हरिजन पानी पीते हैं, वह इतना गंदा है कि वह नारू कीड़ों का जैसे बसेरा बन गया है। जब यह तालाब बांसवाड़ा के कलक्टर को दिखाया गया तो वह स्तब्ध रह गया और उसने तालाब को तुरंत बंद किए जाने का आदेश दिया।

इसके पास ही एक पक्का कुआं था, जहां जाकर पानी लिया जा सकता था। हिंदुओं से चिरौरी की गई थी कि वे हरिजनों को इस कुएं से पानी लेने दें, लेकिन वे राजी नहीं हुए। कलक्टर ने कहा, 'यदि आपसे कहा जाए तो क्या आप इस तालाब का पानी पी लेंगे?' हिंदुओं ने स्वीकार किया कि वह पानी मनुष्य के पीने के लायक नहीं है, फिर भी उन्होंने हरिजनों को पक्के कुएं को इस्तेमाल करने की अनुमति नहीं दी।

हालात खराब हैं और सबसे अधिक कष्ट हरिजन भोग रहे हैं। कानून ने अस्पृश्यता को अपराध ठहराया है। लम्बे अर्से से हरिजन सेवक संघ उसे मिटाने के लिए जी-तोड़ प्रयास कर रहा है, लेकिन कहा नहीं जा सकता कि देहातों में सवर्ण हिंदुओं के मन-मस्तिष्क में कोई परिवर्तन आया है। इस संबंध में राज्य-सरकारें कुछ अधिक नहीं कर पाई हैं।

परिशिष्ट-II

जहां कमीज पहनना अपराध है

दक्षिण भारत में हरिजनों की व्यथा
एक सामजिक कार्यकर्ता का अनुभव

ले.—स्वामी आनंद तीर्थ,. प्रादेशिक अधिकारी,
अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ

'संडे टाइम्स', 9 मार्च 1952 से

बड़े खेद की बात है कि पांच वर्ष पूर्व नागरिक असुविधा निवारण संबंधी कानून बन जाने पर भी हमारे गांवों में हरिजनों को अब भी विभिन्न नागरिक असुविधाओं को झेलना पड़ रहा है। मदुरै जिले के मैलूर तालुका में हरिजनों

की सामाजिक असुविधाओं को दूर करने के लिए पिछले नौ महीने से अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ जोरदार कोशिश कर रहा है। चाय की दुकानों, सैलूनों, कुओं, तालाबों, बावड़ियों आदि में हरिजनों को जिन अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है, उन्हें दूर करने की कोशिश की गई। कहीं-कहीं गांवों के मुंसिफ जिनसे इस कानून को लागू करने में सहयोग की आशा की जाती है, बेचारे हरिजनों को अपने प्राथमिक अधिकारों के इस्तेमाल करने के रास्ते में प्रतिक्रियावादी ताकत बन रोड़े बन जाते हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं, जिनसे पता चलेगा कि हरिजनों के विरुद्ध पूर्वाग्रह ने हमारे समाज में कितनी गहरी जड़ें जमा रखी हैं।

नाथम के पास पार्ली में एक हरिजन युवक ने नारियल के कुल्हड़ में चाय पीने से मना कर दिया। उसने कहा कि मुझे कांच के गिलास में चाय दी जाए। इस पर एक सवर्ण हिंदू ने उसके लात मारी और उसके सिर पर जूते लगाए। बाद में इस सवर्ण को सब-मजिस्ट्रेट, मैलूर ने सजा दी, पर केवल दस रुपये का जुर्माना किया। मेलावल्वू में जब मैं दो हरिजन लड़कों के साथ चाय की दुकान पर गया तो लोगों के एक समूह ने मुझे पीटने की धमकी दी और लड़कों को खदेड़ दिया। चाय की दुकान वाले ने बिना बात कांच का एक गिलास तोड़ दिया और उन सबने मांग की कि मैं उसकी भरपाई करूं, नहीं तो जुर्माने के रूप में मेरी ठुकाई और पिटाई की जाएगी। मैंने भागकर पास के एक प्राथमिक स्कूल में शरण ले ली। भीड़ तभी तितर-बितर हुई, जब पंचायत बोर्ड के प्रधान ने बीच-बचाव किया।

केलावल्वू में हरिजन एक गंदे तालाब से पानी लेते हैं, जिसमें लोग नहाते और अपने जानवरों को भी नहलाते हैं। जब हरिजनों से सार्वजनिक तालाब से पानी लेने के लिए कहा गया, तब सवर्ण हिंदुओं ने उनसे गाली-गलौच की और उन्हें डराया व धमकाया, ताकि वे सार्वजनिक तालाब से पानी लेने का साहस न कर सकें। केलावल्वू में पुलिस थाना है, पर वहां की पुलिस हरिजनों की असुविधाओं के प्रति आंखें मूंदे हुए है। अत्तुकुलम में सवर्ण हिंदू सार्वजनिक कुएं में पाखाना फेंक देते हैं, क्योंकि वे उन हरिजनों को नहीं रोक सके, जिन्होंने हमारे कहने पर वहां से पानी लिया। एत्तिमंगलम में सवर्ण हिंदुओं ने सरकारी नर्सरी में कुछ हरिजनों द्वारा उगाई गई धान की पौध को नष्ट कर दिया। इसका कारण यह था कि हरिजन इस चावड़ी

के अंदर आ गए थे, जहां एक सार्वजनिक सभा हो रही थी। बेचारे हरिजनों ने शिकायत की, पर पुलिस ने कोई कार्रवाई नहीं की।

तिरुवदूर में जब हमने हरिजनों से कहा कि वे सार्वजनिक तालाब से पानी ले लें तो एक सवर्ण हिंदू युवक ने एक गर्भवती हरिजन महिला से हाथापाई की और उसके घड़े को भी तोड़ दिया। पुलिस ने सवर्ण हिंदू के खिलाफ मुकदमा दायर किया और सब-मजिस्ट्रेट ने उस पर सिर्फ पंद्रह रुपये का जुर्माना किया। उसके बाद से हरिजन उस सार्वजनिक तालाब से बेरोकटोक पानी ले रहे हैं। कोत्तागुडी में गांव के एक नाई ने हरिजन लड़के के बाल काटने से इंकार कर दिया। पुलिस ने उस पर मुकदमा चलाया और उसे सब-मजिस्ट्रेट ने सजा दी। लेकिन उसके बाद सवर्ण हिंदुओं ने हरिजनों को चावड़ी में बुलाया और चेतावनी दी कि अगर इस नाई के पास गए और बाल काटने के लिए कहा तो सबको जुर्माना भरना पड़ेगा।

किदारीपत्ती में हरिजनों को अनुमति नहीं है कि वे आम रास्ते से अपने शव को ले जाएं या गांव की गलियों में साइकिल पर सवार होकर निकलें। मैलूर में सब-मजिस्ट्रेट की अदालत में एक मुकदमा एक हरिजन को साइकिल की सवारी से रोकने के बाबत चल रहा है। नदिकोविलपत्ती में जो मैलूर तालुका कार्यालय से केवल तीन फर्लांग पर है, हरिजन एक गंदे नाले से पीने का पानी ले रहे थे, क्योंकि सार्वजनिक तालाब तक उनकी पहुंच नहीं हो सकती थी। इस संबंध में पुलिस में दो शिकायतें दर्ज कराई गईं और अब सवर्ण हिंदुओं की हिम्मत नहीं कि वे हरिजनों को रोक सकें। थेक्किथेरू में जब हरिजन उस समय मंथै चावड़ी पर जाकर बैठ गए जब कि चावड़ी में सार्वजनिक सभा हो रही थी, उन पर पत्थर फेंके गए, परिणामस्वरूप उन्हें डर के कारण वह स्थान छोड़ देना पड़ा।

मैलूर से कोई दो मील दूर नविनिपत्ती में कहा जाता है कि वहां के गांव के मुंसिफ ने पोंगल समारोह दिवस पर हरिजनों के अच्छे कपड़े पहनने पर एतराज किया और दो हरिजन युवकों को अपनी कमीजें और ऊपरी वस्त्र उतारने के लिए कहा। उन युवकों से यह भी कहा गया कि वे कुम्बी दल (साष्टांग प्रणाम) करें और केवल लुंगी पहनकर जाएं।

मदुरै नगर से कोई दस मील दूर मंकुलम में जो अत्याचार किया, वह सबसे अधिक कष्टपूर्ण रहा। वहां ग्राम-मुंसिफ ने शत्रु जैसा व्यवहार किया।

दो हरिजन युवक चाय की दुकान पर गए। उन्हें भीतर जाने से रोका गया। इस पर उन्होंने पुलिस में रिपोर्ट कर दी। इसके लिए उनमें से एक को बड़े-बूढ़ों के इशारे पर एक सवर्ण हिंदू ने खंभे से बांध दिया और बेरहमी से पीटा। दूसरे हरिजन पर ग्राम-मुंसिफ के नौकर ने चाकू से हमला किया। हरिजनों का सामाजिक बहिष्कार किया गया और उन्हें काम नहीं दिया गया। उनका अपराध बस इतना था कि उन्होंने सार्वजनिक तालाब से पानी लिया था। दुकानदारों ने उन्हें खाने-पीने की चीजें देने से इंकार कर दिया और उन्हें दो दिन तक भूखा रखा गया। स्थिति तभी सुधरी, जब मालगुजारी के डिवीजनल अफसर ने बीच-बचाव किया।

हाल ही में दो हरिजनों तथा स्वयं मुझ पर सवर्ण हिंदुओं की एक टोली ने बर्बरतापूर्ण हमला किया। हमें उन्होंने लकड़ी के डंडों से पीटा। हमारा गुनाह बस यह था कि हमने तालाब में स्नान किया और हम चावड़ी के सामने एक कौफी-क्लब में गए थे। मदुरै के सरकारी अस्पताल में भर्ती करके हमारा इलाज किया गया। मेरी दाईं टांग में फ्रैक्चर हो गया। उसके कारण मैं दाईं टांग से चल भी नहीं सकता था। ग्राम-मुंसिफ समेत सोलह लोगों पर पुलिस ने दंगा करने का आरोप लगाया। लेकिन कुछ कांग्रेसजन समझौता कराने का प्रयास कर रहे हैं, क्योंकि उनके कुछ रिश्तेदार उसमें फंसे हुए हैं। पता चला है कि ये लोग इस संबंध में सिफारिश लेकर उच्च अधिकारियों तक पहुंचे हैं। कैसी विडंबना है, कहां महात्माजी की यह इच्छा, 'हरिजनों को अपना सगा भाई समझो।' कहां यह स्थिति! अपना, अपना होता है; पराया, पराया।

जहां तक हरिजनों के प्रति सवर्ण हिंदुओं के रवैए का संबंध है, हमारे हाथ लगती है, निरी निराशा और हताशा। कहां गया महात्माजी का महान बलिदान! उन्होंने ही हमारे लिए स्वराज का द्वार खोला। वह चाहते थे कि इन दलितों तक भी आजादी पहुंचे। राजस्व और पुलिस के अधिकारी हरिजनों की असुविधाओं को दूर करने के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं। महात्माजी के सुपुत्र मणिलाल दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की नागरिक असुविधाओं को दूर कराने के लिए सत्याग्रह कर रहे हैं। हरिजनों को महात्माजी अपने ही जिगर का टुकड़ा समझते थे। आज उन्हें ही वैसी आजादी देने से हम कतरा रहे हैं। महात्माजी का गुणगान करने वाले सवर्ण हिंदुओं और कांग्रेसजनों को यह नहीं भूलना चाहिए कि उनकी आत्मा को शांति तो तभी मिलेगी,

जब अस्पृश्यता के इस पाप को देश के चप्पे-चप्पे से जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया जाएगा। सरकार को समझना चाहिए कि हमारे समाज से इस पाप को दूर करने के लिए ठोस प्रयत्न किए जाने जरूरी हैं।

परिशिष्ट-III

हरिजनों पर जबरन अत्याचार

(थुम्बापत्ती में दर्दनाक और शर्मनाक अत्याचार)
हमारे गांवों में चावड़ी न्यायालय बंद करो

चावड़ी न्यायालय

हम सभी जानते हैं कि हालांकि तमिलनाडु के गांवों की चावड़ियों में हरिजन प्रवेश नहीं कर सकते, फिर भी इन चावड़ियों में सवर्ण हिंदू उनके भाग्य का फैसला करते हैं और उन पर इतने कठोर अत्याचार किए जाते हैं कि वे सवर्ण हिंदुओं से हमेशा डरे-डरे से रहते हैं। हरिजनों की नागरिक असुविधाओं को दूर करने के लिए हम जो आंदोलन छेड़ते हैं, उसमें वे क्यों हिस्सा नहीं लेते, इसका एक कारण यह भी है कि उन्हें गांव के मुखिया (पेरियमबलगर) जो सवर्ण हिंदू होता है, के नेतृत्व में सवर्ण हिंदुओं द्वारा सताए जाने का बराबर डर बना रहता है। अनेक स्थानों पर ग्रामवासियों ने पंचायत सभा का नाम देकर अपने-अपने चावड़ी न्यायालय स्थापित कर रखे हैं। बेचारे हरिजनों को इन चावड़ियों में बुलाया जाता है और उन पर गुलामों की तरह मुकदमा चलाया जाता है। यदि उनमें से कोई पेरियमबलगर के आदेश का विरोध करता है, तो जबरा कानून शुरू हो जाता है। बेरहमी से उनकी ठुकाई व पिटाई की जाती है, ताकि उनके मन में डर बिठाया जा सके और पेरियमबलगर की निरंकुश सत्ता का लोगों में प्रदर्शन किया जा सके। इन चावड़ियों में विभिन्न प्रकार की परिस्थिति और पेरियमबलगर व उसके सभासदों की इच्छा के अनुसार हरिजनों को दंड दिया जाता है—यथा, सरेआम कोड़े लगवाना, भारी जुर्माना करना और जुर्माना न देने पर उनकी संपत्ति जब्त कर लेना, झूठे मामले गढ़ना, रोजगार न देना और मजदूरी रोक कर आर्थिक बहिष्कार करना, सामाजिक समारोहों और धार्मिक उत्सवों में उनकी भागीदारी पर रोक लगाकर समाजिक बहिष्कार करना,

तालाबों और कुओं पर उनके प्रवेश पर रोक लगाकर उन्हें पानी न लेने देना, गांवों की दुकानों में बिक्री पर रोक लगाकर उन्हें खाने-पीने की चीजें न खरीदने देना, आदि-आदि। हरिजनों का उद्धार तभी हो सकता है, जब सरकार उन ग्रामवासियों के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करे, जो ग्राम-पंचायत की आड़ में ये अवैध और अन्यायपूर्ण अदालतें चलाते हैं। पिछड़े तथा अल्पसंख्यक समुदाय पर उपर्युक्त तरीकों से तरह-तरह का जैसा उत्पीड़न गांवों में वहां के लोग कर रहे हैं, उसे कोई भी सभ्य सरकार सहन नहीं कर सकती।

थुम्बापत्ती में अत्याचार

एक अगस्त 1953 को थुम्बापत्ती में हरिजनों के साथ जो व्यवहार किया गया, उसे सुनकर किसका हृदय न पसीज उठेगा। इसका विवरण इस प्रकार है। यह गांव मदुरै से 22 मील दूर स्थित है और यह स्थान तमिलनाडु में हरिज़नों के एक प्रमुख नेता, संसद-सदस्य श्री पी. कक्कन का जन्म स्थान है। पता चला है कि हरिजन बस्ती के सभी वयस्कों को चावड़ी के सामने खुले मैदान में बुलाया गया। सवर्ण हिंदुओं ने प्रथा के अनुसार पेरियमबलगर और उसकी परिषद् के सामने साष्टांग प्रणाम किया। उसके बाद कोई एक दर्जन हरिजन युवकों को मुकदमे के लिए अलग छांट लिया गया। उन पर यह आरोप था कि लोगों को उन पर शक है कि वे गांव में चोरियां करते हैं। जिन युवकों ने थोड़ा-बहुत विरोध किया और सवर्ण हिंदुओं के आगे प्रथानुसार हाथ-पैर नहीं जोड़े, उन्हें दंड देने के लिए अलग से चुन लिया गया। उन्हें डंडों से मारा-पीटा गया और उनसे चोरी स्वीकार करने के लिए कहा गया। अन्य हरिजनों से पूछताछ की गई और कहा जाता है कि उत्पीड़न के डर से उन्होंने सभी चोरियों की जिम्मेदारी अभियुक्तों पर थोप दी। फैसला सुनाया गया कि ये युवक दोषी हैं। इसके बाद विधिवत दंड देने के लिए कुछ को हथकड़ियां भी पहना दी गईं। पता चला है कि उनमें से एक ने फिर भी विरोध प्रकट किया और बच निकलने के लिए बहाना बनाया। चावड़ी न्यायालय का अनादर करने पर गांव वाले नाराज हो गए। पता चला है कि पेरियमबलगर ने चावड़ी की ओर से यह निर्णय किया कि इन हरिजन युवकों के खिलाफ कठोर कार्रवाई की जाए। जबरा कानून की कार्रवाई शुरू हो गई और हरिजन युवकों की बड़ी बेरहमी से पिटाई की गई। जिन लोगों को हरिजनों से कोई शिकायत या विद्वेष था, उन सभी को बिना किसी दंड के भय के हरिजनों से गिन-गिनकर बदला लेने की खुली छूट मिल

गई। जिस हरिजन युवक ने फिर भी बच निकलने की कोशिश की, उसके पैरों को पकड़ उसे पथरीली जमीन पर खूब घसीटा गया। दूसरों की डंडों से पिटाई की गई। उन्हें पेड़ों से बांध दिया गया और फिर इतनी बेरहमी से पीटा गया कि उनकी हड्डियां और पसलियां लगभग चूर-चूर हो गईं। कोई आठ घंटे तक उन्हें पैरों से बांधकर खड़ा रखा गया, ताकि लोग उन्हें जी-भर कर देख लें। लगता है कि सभी हरिजनों को यह चेतावनी दे दी गई है कि वे हरिजन कार्यकर्ताओं से सहयोग न करें।

झूठा मामला गढ़ा गया

उसके बाद गांव वालों ने जो कुछ किया, वह और भी शर्मनाक है। आमतौर पर होता यह है कि झूठे मामले हरिजनों के मत्थे मढ़ दिए जाते हैं और तुरंत कार्रवाई करने के लिए पुलिस बुला ली जाती है। जब यह पता चला कि हरिजनों को गंभीर चोटें आई हैं, तो गांव वालों को अहसास हुआ कि वे तो मुसीबत में फंस जाएंगे। पता चला है कि इसलिए संसद-सदस्य श्री पी. कक्कन के अस्सी वर्षीय पिता एवं ग्राम-प्रधान (थोट्टी) श्री पूसारी कक्कन से कहा गया कि वह यह झूठी शिकायत कर दें कि पिछली शाम को हरिजन मंदिर से कुछ चीजें गुम हो गईं और ग्राम के मुंसिफ ने पुलिस में रपट दर्ज करा दी कि ये चीजें हरिजन युवकों से बरामद की गईं। कहा जाता है कि श्री पूसारी कक्कन और एट्टी कक्कन नामक एक अन्य ग्राम-प्रधान ने ये चीजें लाकर ग्राम के मुंसिफ को दीं। सूचना पाते ही पुलिस तुरंत आ गई। उसने चोरी के आरोप में हरिजन युवकों को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें अस्पताल भेज दिया, क्योंकि वे घायल अवस्था में पाए गए। हमारा आशय सरेआम पुलिस की आलोचना करना नहीं है। इतना कहना काफी होगा कि ग्रामवासियों ने हरिजनों पर जो जुल्म किए, वे पुलिस की सरकारी दृष्टि से ओझल रहे।

सच का पता चल ही गया

यह अच्छा हुआ कि गांव वालों ने जो कुछ किया, उसके समर्थन में एक सामूहिक याचिका तमिलनाडु हरिजन सेवक संघ के अध्यक्ष वैद्यनाथ अय्यर के पास भेज दी। वह याचिका जांच करने और रिपोर्ट देने के लिए मेरे पास भेज दी गई। एक छोटी-सी कमेटी बनाई गई। उसमें मैलूर तालुका कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष, मैलूर तालुका हरिजन सेवक संघ के सचिव, मैलूर

सेवा समाज के सचिव, और मुझे शामिल किया गया। हमने तदनुसार मामले की जांच की। हमने पाया कि गांव वालों ने हरिजन युवकों को बेरहमी से मारा-पीटा और उन्हें कोई आठ घंटे तक पेड़ों से बांधे रखा। उसके बाद ही पुलिस वहां पहुंची। श्री पूसारी कक्कन और पेरियमबलगर की शिकायत की जांच-पड़ताल श्री वैद्यनाथ अय्यर ने की। उन्होंने श्री अय्यर के सामने स्वीकार किया कि पुलिस के पास दर्ज कराई गई शिकायत झूठी और मनगढ़ंत थी। पेरियमबलगर ने भी हरिजनों के प्रति किए गए अवैध कार्यों के लिए खेद प्रकट किया। इस बीच पुलिस ने श्री पूसारी कक्कन की शिकायत की जांच-पड़ताल की और मामले के बारे में कहा, 'कुछ पता नहीं चल सका', लेकिन उसने गांव वालों के खिलाफ कोई मामला दर्ज नहीं किया। लगता है कि हरिजन युवकों की हड्डियां दरअसल टूटी नहीं थीं। डंडों की मार तथा रस्सियों के बंधन के निशान उनके शरीरों पर कई दिन तक दीखते रहे। उनमें से दो को दो दिन तक अस्पताल में रखा गया और उनकी टांगों का एक्सरे किया गया, ताकि निश्चय किया जा सके कि उनकी हड्डियां टूटी नहीं। उनकी टांगों पर पलस्तर बांधकर भेज दिया गया। एक पखवाड़े तक वे ठीक तरह से चल भी नहीं सके।

दो जांच-पड़ताल की गईं

डिप्टी कलक्टर के आदेश पर एक जांच-पड़ताल उप-कल्याण अधिकारी, मदुरै ने की और दूसरी जांच-पड़ताल हाल ही में सरकार के आदेश से राजस्व डिवीजनल अधिकारी, मदुरै ने की। परिणाम अभी तक पता नहीं चला है।

थुम्बापत्ती में नागरिक असमानताएं

1948 में जब सार्वजनिक तालाब से हरिजनों ने पानी लिया, तो थुम्बापत्ती के ग्रामवासियों ने भयंकर विरोध किया। तब तक हरिजन एक गंदे पोखर से पानी ले रहे थे। वहां लोग स्वयं नहाते थे और पशुओं को भी नहलाते थे। कुछ हरिजन युवकों को बुरी तरह मारा-पीटा गया और हरिजनों के घरों को आग लगाने की कोशिश की गई। कहा जाता है कि इस संबंध में अधिकारियों ने ग्राम के मुंसिफ तथा अन्य लोगों को चेतावनी दी है। थुम्बापत्ती में चाय की एक दुकान में हरिजन को कांच के गिलास में कौफी नहीं दी गई। इस मामले की सूचना पुलिस को 19 अगस्त 1953 को दी गई। चाय की दुकान के मालिक को अपराधी माना गया और उस पर

सब-मजिस्ट्रेट ने दस रुपये का जुर्माना किया। गांव का नाई कहता है कि वह हरिजनों की सेवा करने के लिए तैयार है। फिर भी हरिजन उसके पास नहीं जाते। संभवतः उसका कारण यह है कि सवर्ण हिंदुओं ने उन्हें गुप्त रूप से चेतावनी दी है। कुछ हरिजन 1 जुलाई 1953 को नाई के पास गए थे और इस बात पर विश्वास करने के लिए सबूत हैं कि 1 अगस्त 1953 को हरिजन युवकों के खिलाफ जो कार्रवाई की गई, वह हरिजनों में दहशत फैलाने की एक साजिश थी।

हमारा सामान्य अनुभव

आमतौर पर हमारा यह सामान्य अनुभव रहा है कि जब भी हरिजन अपने प्राथमिक अधिकारों को प्राप्त करने की कोशिश करते हैं तो ग्रामवासी उन्हें चावड़ी पर बुला लेते हैं और किसी न किसी रूप में उनको धमकाते व मारते-पीटते हैं। उत्पीड़न की ऐसी घटनाएं मंगुलम, कुरुवनकुलम, अडानूर, पाथियेत्तमगुडी और कारुगाकोट्टै में घटीं। पुलिस के उच्च अधिकारियों ने इन स्थानों का दौरा किया। कुछ स्थानों में हरिजनों को चावड़ी पर बुलाया गया और कोट्टागुडी, किदारीपट्टी और पुल्लिपट्टी की भांति चेतावनी दी गई। अधीनस्थ पुलिस अधिकारी आमतौर पर सवर्ण हिंदुओं का समर्थन करते हैं। इस प्रकार सवर्ण हिंदुओं को अपना जबरा कानून लागू करने की छूट मिल जाती है, ताकि वे हरिजनों को उनके दास होने का बोध करा सकें।

क्या हम इसे सहन कर सकते हैं

हमारे सामने सवाल यह है कि जब हम जलियांवाला बाग में हुए डायर के अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह कर चुके हैं, तो आजकल सरेआम हरिजनों को जिस घोर अपमान और मनमानें अवैध अत्याचार का शिकार बनाया जा रहा है, क्या हम उसे सहन कर सकते हैं? जलियांवाला बाग में तो अत्याचार विदेशी नौकरशाहों ने उन नर-नारियों पर ढाए थे, जो एक सभा के लिए वहां एकत्र हुए थे। यहां उसी प्रकार के जुल्म हमारे ग्रामवासियों ने उन चंद हरिजन युवकों पर किए, जिन पर चावड़ी में मुकदमा चलाया गया, जिसका उद्देश्य यह था कि आम हरिजन के हृदय में आतंक का हौआ बिठा दिया जाए।

सरकार को क्या करना होगा

ग्रामों में सरकार ने ग्राम पंचायतों की स्थापना की है। उनमें निर्वाचित सदस्य होते हैं, जिनमें हरिजन भी होते हैं। तो क्या कारण है कि सरकारी मान्यता प्राप्त इन पंचायतों के समानांतर सवर्ण हिंदुओं को उनके चावड़ी न्यायालय करने की छूट दी जाए। ग्रामों में निर्धन पिछड़े वर्ग की जातियों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उत्थान के मार्गों में ये चावड़ी न्यायालय गंभीर बाधाएं हैं। ग्रामों में हरिजनों का उद्धार अथवा मुक्ति तभी हो सकती है, जब इन चावड़ी न्यायालयों पर सरकार रोक लगा दे। जब तक चावड़ी न्यायालयों पर यह प्रतिबंध नहीं लगाया जाता कि वे इस प्रकार हरिजनों के बारे में कोई निर्णय नहीं कर सकते, तब तक हरिजनों की नागरिक असुविधाओं को दूर करने के हमारे सभी प्रयास मिट्टी में मिलते रहेंगे। इससे पहले कि छुआछूत मिटाने के लिए तीन लाख रुपये खर्च किए जाएं, सरकार को कुछ जरूरी उपाय करने ही होंगे। उसे चावड़ी में हरिजनों पर हो रहे उत्पीड़न को बंद करना होगा। उसे हरिजनों को इस योग्य बनाना होगा कि वे इंसान के रूप में गर्व से अपना सिर उठा सकें। केरल में सार्वजनिक स्थानों से अब छुआछूत का सफाया हो गया है, क्योंकि देश के उस भाग से अब इन चावड़ी न्यायालयों का लोप हो गया है।

एक अपील

महात्मा गांधी ने ही हमें यह बोध कराया कि हम ग्रामों में निर्धन हरिजनों के साथ भारी अन्याय कर रहे हैं। उनके साथ निम्न जातियों तथा दास जैसा व्यवहार कर रहे हैं। यदि वह न होते तो देश के विभिन्न भागों के हरिजन सवर्ण हिंदुओं के असहय अत्याचारों से तंग आकर हिंदुओं से अलग हो जाते। आज से 21 वर्ष पूर्व महात्मा गांधी ने पूना में ऐतिहासिक अनशन किया था। उद्देश्य था, हरिजनों के समर्थन में जन-जागरण हो। इसमें संदेह नहीं कि पिछले दशकों में भारी जन-जागरण हुआ है और आज हरिजन आंदोलन के प्रति जन-सहानुभूति है। सरकार वचनबद्ध है कि वह हरिजनों की सभी प्रकार की सामाजिक तथा नागरिक असुविधाओं को दूर करेगी। वह हरिजनों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के सभी शांतिपूर्ण तथा वैध प्रयासों को पूर्ण सहयोग प्रदान भी कर रही है। लेकिन हमें स्वीकार करना होगा कि गांवों में आज भी हरिजनों के प्रति काफी विद्वेष और पूर्वाग्रह हैं। हम सभी समाज सेवकों से अपील करते हैं कि वे ग्रामों में सवर्ण हिंदुओं के हृदय में परिवर्तन लाएं, ताकि अब और आगे हरिजनों को एक अलग अस्पृश्य वर्ग के रूप

में न माना जाए। हम सभी नेताओं से अपील करते हैं कि वे अस्पृश्यता को मिटाने के लिए जी-जान से जुट जाएं और प्रयास करें कि हरिजनों को हिंदू समाज का अभिन्न अंग माना जाए।

दक्षिणी रेंज,
प्रधान कार्यालय, मैलूर

स्वामी आनंद तीर्थ, एम.ए.
प्रादेशिक अधिकारी
अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ

अनुक्रमणिका